पुस्तक □ श्री गणेश मुनि शास्त्री : साधक और सर्जक
लेखक □ डॉ० रामप्रसाद त्रिवेदी
प्रेरक □ जिनेन्द्र मुनि शास्त्री, काव्यतीर्थ
प्रकाशक □ अमर जैन साहित्य संस्थान, उदयपुर (राज०)
प्रथम संस्करण □ १९७४ नवम्बर, दीपमालिका
मूल्य □ पांच रुपये
मुद्रण व्यवस्था □ श्रीचन्द सुराना के लिए
राष्ट्रीय आर्ट प्रिंटर्स, आगरा-३



कवि, लेखक, चिन्तक और प्रखर वक्ता
श्री गणेशमुनि जी शास्त्री, दार्शनिक मुद्रा में

संतजन की मधुर स्मृति को ···।

प्रकाशकीय निवेदन

●

"श्री गणेशमुनि शास्त्री : साधक और सर्जक" पुस्तक प्रेमीपाठकों के कर-कमलों में अर्पण करते हुए हमें अपार हर्ष है। श्री गणेश मुनि जी शास्त्री मरुधरा के आचार्य सम्राट श्री अमरसिंह जी म० सा० की भूतपूर्व सम्प्रदाय के उत्तराधिकारी परम श्रद्धेय राजस्थान केशरी पण्डितरत्न श्री पुष्कर मुनि जी म० सा० के विद्वान शिष्य रत्न हैं। आप अनेक विविधता के धनी हैं। जहाँ एक ओर सफल साहित्यकार हैं, वहाँ आप एक सफल साधक भी हैं। साहित्यकार और साधक इन दोनों का मणि-कांचन संयोग है आप में। अधिकांश देखा जाता है कि साहित्यकार प्रायः अपनी साहित्य-साधना में डूबा रहता है। उसके पास जीवन-शोधन अथवा आत्मचिन्तन करने का अवकाश ही शेष नहीं रहता। जबकि मुनि श्री जी तो इसके अपवाद हैं। वे जितने साहित्य निर्माण में संलग्न रहते हैं, उतने ही आत्मचिन्तन में भी। साहित्य सर्जना उनकी आत्म-साधना में कभी बाधक नहीं बनी, बल्कि मुनि श्री जी तो इसे आत्मसाधना का एक अभिन्न अंग मान कर चलते रहे हैं। मुनि श्री जी की इस अल्प समय की साधना ने समाज व देश को बहुत कुछ दिया है और दे रहे हैं।

वर्षों से हम सोच रहे थे कि क्यों नहीं ऐसे महान् आत्मद्रष्टा व साहित्य स्रष्टाओं का परिचय संसार के सम्मुख रखा जाय ? मन का चिन्तन तो चल पड़ा, किन्तु बिना समय व योग के कोई भी करणीय क्रियान्वित नहीं हो सकता।

पुण्य से पूज्य गुरुदेव श्री पुष्कर मुनि जी म० सा० का वर्षावास सन् १९७१ का बम्बई कांदावाड़ी तय हुआ। उन्हीं के सानिध्य में श्रद्धेय मुनि श्री जी भी विराजमान थे। आपके अंतेवासी श्री जिनेन्द्र मुनि जी साहित्यरत्न का अध्ययन कर रहे थे। उन्हें अध्यापनार्थ श्रीयुत् डॉ० रामप्रसाद त्रिवेदी जी पधारते थे। उस प्रसंग पर मुनि श्री जी का अनूठा व्यक्तित्व तथा उनकी साहित्य सर्जना को देखकर त्रिवेदी जी अत्यधिक प्रभावित हुए। चातुर्मास के उत्तरार्ध में मुनि श्री जी से उन्होंने निवेदन किया कि आपके साहित्य पर मैं कुछ लिखना चाहता हूं ? इसके उत्तर में मुनि श्री जी मौन रहे। त्रिवेदी जी ने पुनः मुनि श्री जी से पूछा ! इसमें आपकी क्या राय है ? मुनि श्री जी गंभीर स्वर में बोले ! त्रिवेदी जी ! मैं न इस योग्य हूँ और न मेरा साहित्य ही। आप किसी विशिष्ट महापुरुष के सम्बन्ध में अथवा उनके साहित्य के बारे में लिखेंगे तो विशेष उपयोगी सिद्ध होगा ! क्योंकि मैं तो एक सामान्य नौसिखिया साधक हूँ।" मुनि श्री जी की इस बात पर त्रिवेदी जी मुस्कराये और

बोले—'महापुरुष अथवा साहित्यकार बनाने से नहीं बनते, वे तो अपनी सहज प्रतिभा से बन जाते हैं। क्या आप इसके अपवाद नहीं हैं ?'' बस फिर क्या था। कुछ समय के पश्चात् त्रिवेदी जी ने मुनि श्री जी पर लिखना प्रारम्भ कर दिया था। पूर्व एक निबन्ध लिखने तक का ही विचार था, किन्तु ज्यों-ज्यों लेखन करते गये और मुनि श्री जी के जीवन दर्शन के नये-नये आयाम उन्हें प्राप्त होते रहे कि वह एक वृहत्काय निबन्ध बन गया और धीरे-धीरे उस निबन्ध ने एक ग्रन्थ का आकार ले लिया।

यहाँ एक बात हम स्पष्ट रूप से कहेंगे कि मुनि श्री जी के जीवन-दर्शन का यह सर्वांगीण रूप नहीं है। मुनि श्री जी के जीवन विषयक अनेक प्रसंग छुए तक नहीं गये हैं। कई प्रसंगों का संक्षेप भी किया गया है। इसकी पूर्णता न लेखक स्वयं स्वीकार करता है और न मुनि जी में श्रद्धा-भाव रखने वाला श्राद्धवर्ग ही। क्योंकि किसी भी विशिष्ट व्यक्ति के जीवन का अध्ययन अथवा दर्शन 'इति' रहित ही होता है, उनमें केवल 'अथ' ही होता है। मुनि श्री जी के विगत जीवन के अवशिष्ट प्रसंग तथा भावी जीवन में प्रस्तुत होने वाले नवीन प्रसंग अनेक द्रष्टा व अध्येताओं की अपेक्षा रखते ही रहेंगे। यह तो मुनि श्री जी के जीवन इतिहास की एक मात्र कड़ी है।

अब हम संस्थान के परिवार की ओर से त्रिवेदी जी का हृदय से अभिनन्दन करते हैं, जिन्होंने प्रस्तुत पुस्तक का लेखन किया है। श्री त्रिवेदी जी, जैन नहीं होते हुए भी एक जैन मुनि पर जिस श्रद्धा और भक्ति-भाव से अभिभूत होकर जो लिखा वह स्तुत्य है। उनके विराट् हृदय का यह सुन्दर परिचायक है।

श्री त्रिवेदी जी सिद्धहस्त लेखक हैं। आपकी लोह लेखनी में प्रचुर बल है। भाषा में प्रवाह, विचारों में उदारता, शैली में गंभीरता रही हुई है। इससे पूर्व भी आपने तीन चार पुस्तकों का लेखन किया है, जिसका हिन्दी संसार में अच्छा स्वागत हुआ है। किन्तु किसी व्यक्ति विशेष पर लिखने का यह प्रथम प्रसंग ही है आपका।

श्री त्रिवेदी जी, स्वभाव से मधुर, मिलनसार तथा निरभिमानी हैं। हमें उनसे मिलने का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि त्रिवेदी जी एक सुलझे विचारों के उदारचेता शिक्षक हैं।

अंत में सुप्रसिद्ध विद्वान श्री श्रीचन्द जी सुराना को हम अपने स्मृति-पथ पर लाये बिना नहीं रह सकते जिन्होंने पुस्तक मुद्रणकला की दृष्टि से सुन्दर से सुन्दरतर बना दी है। साथ ही यह भी विश्वास करते हैं कि अनेक संत जीवनियों की पुस्तकों में से यह पुस्तक अपनी नूतन शैली की एक अनूठी सिद्ध होगी ? पाठकों को यह प्रयास यदि पसंद आया तो निश्चित ही लेखक तथा प्रकाशन संस्थान का श्रम सार्थक व सफल समझा जायेगा।

—मंत्री
अमर जैन साहित्य संस्थान

आमुख



गोस्वामी तुलसीदासजी ने 'साधु चरित' की महिमा बतलाते हुए अपने 'रामचरित मानस' में एक स्थल पर अपनी प्रणति इन शब्दों में निवेदित की है :—

बंदउँ संत समान चित हित अनहित नहिं कोइ।
अंजलि गत सुभ सुमन जिमि सम सुगंध कर दोइ॥

अंजलि में शुभ सुमनों के लेने से दोनों हाथ सुवासित हो जाते हैं, ऐसा तुलसी का दृढ़ विश्वास है। साधु का चरित्र पारदर्शी होना चाहिए जिसमें कहीं भी आवरण की सम्भावना ही न हो। श्री गणेश मुनिजी 'शास्त्री' के नाम में 'मुनि' और 'शास्त्री' दोनों का समन्वय देखकर ही मैं उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के प्रति आकृष्ट हुआ। 'मुनि' उनकी आध्यात्मिक उपाधि है और 'शास्त्री' साहित्यिक। अध्यात्म और साहित्य का संगम विरले जनों में ही होता है। आध्यात्मिक साधना सर्वथा वैयक्तिक एवं अंतर्मुखी होती है जबकि सुप्रसिद्ध विचारक कॉडवेल के अनुसार, 'साहित्य रूपी मुक्ता का जन्म समाज रूपी सीपों में होता है' अर्थात् साहित्य की रचना-प्रक्रिया वैयक्तिक होकर भी अपने प्रभाव पक्ष में सामाजिक होती है। अध्यात्म के विषय में मैं कुछ भी कहने का अधिकारी नहीं हूँ, क्योंकि यह मेरी चेतना का अपरिहार्य अंग नहीं है। इसीलिए मुनिजी के व्यक्तित्व का आध्यात्मिक पक्ष इस पुस्तक में अंकित नहीं हो सका है। यह कार्य तो जैन-समाज के किसी अधिकारी विद्वान के द्वारा ही सम्भव है जिसे जैन-दर्शन की सूक्ष्मता का वास्तविक ज्ञान हो।

जहाँ तक मुनिजी के साहित्यिक व्यक्तित्व का प्रश्न है, उनके सम्पूर्ण वाङ्मय का अध्ययन करने के पश्चात् मैं बड़ी निष्ठा के साथ इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि उनके साहित्य का मूल लक्ष्य जैन सिद्धान्तों का यथासम्भव प्रचार है। जहाँ विचार होते हैं वहीं प्रचार की सम्भावना होती है, विचारों के अभाव में प्रचार किसका और कैसा ? अतः श्री गणेश मुनिजी के गद्य और पद्य दोनों में ही जैन-दर्शन की मान्यताओं की बहुविधि चर्चा हुई है। अहिंसा उनके चिन्तन का सबसे प्रिय विषय है और इस विषय पर उनकी दो मौलिक कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनकी प्रशंसा देश के यशस्वी विद्वानों के द्वारा हुई है। उन्होंने बड़ी स्पष्टता एवं गम्भीरता के साथ विज्ञान जैसे आज के सर्वाधिक विवादग्रस्त विषय पर भी अपने मंतव्यों से जन समाज को उद्वेलित किया है। सरल से सरल एवं गम्भीर से गम्भीर विषयों पर उनकी लेखनी

समान गति से प्रवाहित होती है और अपने निष्कर्षों से पाठकों को चमत्कृत करती है। उनकी लेखन-शैली इतनी सधी और मँजी हुई है कि उसमें एक सहज आकर्षण सदैव लक्षित होता है। मौलिक साहित्य से लेकर अनुसन्धान एवं शोध, संपादन एवं संकलन तक उन्होंने अपने अध्ययन तथा लेखन का प्रसार किया है और अविराम गति से इस रचनात्मक दिशा में अग्रसर हो रहे हैं। ऐसे महत्वपूर्ण व्यक्ति के विधायक पक्षों के आकलन का यह एक विनम्र प्रयास है।

इस वर्ष विश्व भर के जैन मतावलम्वी भगवान महावीर की २५००वीं निर्वाण शताव्दी को वड़े उत्साहपूर्ण ढंग से आयोजित कर रहे हैं। चतुर्दिक एक धार्मिक वातावरण की सृष्टि की जा रही है ताकि भगवान महावीर के महान कार्यों तथा उपदेशों की विधिवत् व्याख्या की जा सके। ऐसे शुभ अवसर पर उनके वताये हुए मार्ग पर चलने वाले एक विख्यात श्रमण के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर दो शव्द लिखकर मैं हार्दिक कृतज्ञता का अनुभव कर रहा हूँ। 'उत्तराध्ययन सूत्र' में भगवान महावीर का एक कथन अंकित है—'वाहाहिं सागरो चेव, तरियव्वो गुणोदही' अर्थात् जैसे भुजाओं से सागर तैरना कठिन है, वैसे ही सद्गुणों की साधना का कार्य कठिन है। जो लोग साधना की अग्नि में कुन्दन की तरह खरे उतरे हैं, उनके निर्मल व्यक्तित्व का मूल्यांकन भी क्या कम कठिन है?

श्री गणेश मुनि जी, लेखक, कवि, गायक और वक्ता होने के साथ-साथ एक सफल धर्म प्रचारक एवं व्याख्याता है। अव तक जैन-धर्म एवं दर्शन से संवद्ध उनकी लगभग डेढ़ दर्जन कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं और अनेक प्रकाशन के पथ पर अग्रसर हैं। साधना और सर्जना की गंगा-यमुनी धारा ने उनके व्यक्तित्व का अभिषेक किया है। ऐसे मांगलिक व्यक्तित्व का समग्र मूल्यांकन एक लघु कृति की सीमा में कर पाना संभव ही नहीं है। इस दिशा में चूंकि यह मेरा प्रथम प्रयास है। अतः इसकी अपर्याप्तताओं से मैं अनभिज्ञ नहीं हूँ। फिर भी अनजाने एवं अनचीन्हे मार्ग पर भटकने का एक सुख होता है और इसी सुख का अनुभव मैं इस रचना के सन्दर्भ में प्रतिपल करता रहा हूँ। मेरे प्रयास की सार्थकता तो मात्र इस वात पर अवलंबित है कि मुनिजी के वरेण्य व्यक्तित्व की गरिमा को किस सीमा तक रेखांकित कर सका हूँ अन्यथा उन जैसे साधकों को किसी मूल्यांकन की अपेक्षा नहीं होती क्योंकि 'नहि कस्तूरिका गंधः शपथेनानुभाव्यते'।

विड़ला महाविद्यालय
कल्याण (महाराष्ट्र)
१—६—७४

—रामप्रसाद त्रिवेदी

प्रस्तावना



आज व्यक्ति अपने स्वातन्त्र्य और परिवेश के प्रति सजग है। प्रगति की दिशा में यह एक शुभ संकेत है। इससे मानवीय सम्बन्धपरकता का विकास होता है। लेकिन यह सम्बन्धपरकता अर्थवान तब बनती है जब इसके साथ आत्मबोध और आन्तरिक जागरूकता जुड़ती हो। मानवीय सम्बन्धपरकता को आत्मोपलब्धि की भूमिका पर प्रतिष्ठित करना आज की ज्वलंत समस्या है। इस समस्या ने ही आज मूल्य-संकट को जन्म दिया है।

आज सर्वत्र मूल्यो की चर्चा है। कहा जाता है कि पुराने मूल्य टूट रहे है और नये मूल्य प्रतिष्ठित नहीं हो पा रहे हैं। ध्यान देने की वात यह है कि आधुनिक चिंतन ने मूल्यों को अर्थ से अधिक जोड़ दिया है। फलस्वरूप मूल्य को तेजस्विता प्रदान करने वाला धर्म और मोक्ष तत्त्व पीछे छूट गया है। इस स्थिति ने व्यक्ति को मूल्य के प्रति आकर्षित और सचेत तो किया पर, मूल्य-निर्धारण की प्रक्रिया में उसके सक्रिय अवदान से उसे वंचित कर दिया। इसीलिए आज व्यक्ति सव कुछ जानते हुए भी दिग्भ्रमित है, परिचितों के बीच रहकर भी अपरिचित है, और सव प्रकार की भौतिक सुविधाएँ पाकर भी अतृप्त है, रिक्त है, अनुभूति-शून्य है। इस स्थिति का मूल कारण है—अन्तर्मन की यात्रा का अभाव।

भारतीय मनीषा ने सदैव इस वात पर बल दिया कि आत्मोपलब्धि के बिना मूल्योपलब्धि संभव नहीं। और यह आत्मोपलब्धि बिना अन्तर्मन की यात्रा के प्राप्त नहीं हो सकती। इसके लिए आवश्यक है—असम्पृक्त लगाव, अनाग्रह दृष्टि, अनासक्त वृत्ति और सवसे वढ़कर स्वानुभूति का उद्रेक। भारतीय संत परम्परा का इतिहास इसी अन्तर्यात्रा का इतिहास है। भारतीय संतों ने अपने ओज और क्रान्ति-तत्त्व से गतानुगतिकता को तोड़ा है, अन्धमान्यताओं को चुनौती दी है और धर्म को मानव-धर्म के व्यापक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है। श्री गणेशमुनिशास्त्री इसी संत-परम्परा के उज्ज्वल नक्षत्र हैं।

आज का जीवन जटिल, यंत्रवद्ध और अत्यधिक व्यस्त है। इस व्यस्तता के कारण व्यक्ति, सक्रिय तो लगता है पर उसकी यह सक्रियता भीतर को झंकृत नहीं कर पाती, केवल बाहरी तह छूकर रह जाती है। इससे व्यक्ति छटपटाता तो है, तिलमिलाता तो है, पर अपने ही इर्द-गिर्द। वह दूसरों के लिए पिघल नहीं पाता, वह

नहीं पाता, और जा वह नहीं पाता वह अपने ही ताप से सोख लिया जाता है। पर जिसमें वहने की क्षमता है, वह स्वयं नदी वन जाता है, दूसरे नद-नालों को अपना वना लेता है और वन जाता है एक दिन सागर, महासागर। यह सम्पूर्ण साधना प्राकारान्तर से वारहमासी वहते रहने वाले झरने की साधना है। कहना न होगा कि श्री गणेश मुनि शास्त्री की साधना और साहित्य सर्जना की यही प्रक्रिया है, इसीलिए वे तरल हैं, गतिशील हैं, मधुर हैं।

श्री गणेश मुनि शास्त्री परम्परा से जैन संत हैं। जैन संत की साधना कठोर साधना है। वह अपरिग्रही और त्यागी होता है। उसे किसी के प्रति आसक्ति नहीं होती, अपने शरीर के प्रति भी नहीं। यह अनासक्त भाव उसे उदार और निर्वैयक्तिक वना देता है। पद-यात्रा का जन-जीवन के साथ निकट सम्पर्क उसकी अनुभूति को व्यापकता और वैविध्य प्रदान करता है। महाव्रतों की साधना उसकी आत्म-शक्ति को जागृत करती है। इन सवसे अनुप्राणित होकर जिस साहित्य की सृष्टि होती है, वह निश्चय ही लोक मंगल के लिए समर्पित होता है, उससे निश्चय ही जीवन मूल्यों के निर्माण में प्रेरणा मिलती है।

श्री गणेश मुनि शास्त्री के सर्जक रूप की यह विशेषता है कि वह साधक की शास्त्रीयता या दुरूहता से अनुशासित नहीं है, वह अनुप्रेरित है साधना के उस आनन्द मय क्षणों से जहाँ सव कुछ समरस है, सरस है, चिन्मय है।

मुनि श्री का गद्य और पद्य दोनों पर समान अधिकार है। अपने गद्य-लेखन में वे शुष्क नहीं हैं, कवि हृदय की सरसता और सहृदयता सर्वत्र साथ लिये हुए हैं। पद्य-लेखन में वे मात्र छन्द की संगीतात्मकता से वंधे हुए नहीं हैं, उनकी मौलिक उद्भावना और वौद्धिक चिन्तना उन्हें अर्थ की सूक्ष्म लयता से भी वाँधती है।

मुनि श्री, चाहे वह गद्य हो या पद्य, कथ्य और शिल्प में नवीनता के हामी हैं। अपने प्रतिपाद्य विषय को वे नवीन चेतना के धरातल से उठाते हैं, उसे समसामयिक परिस्थितियों में उभारते हैं और तव समाहार करते हैं उसका अपने गतिशील जीवन-दर्शन में। उदाहरण के लिए उनका 'अहिंसा' का विवेचना-क्रम देखा जा सकता है। अहिंसा उनके लिए केवल पारम्परिक धर्म है, वह वैज्ञानिक प्रगति से उद्भूत जटिलताओं के वीच एक सक्रिय सामाजिक संजीवन शक्ति है, विज्ञान को सृजनात्मक क्षमता प्रदान करने की दिशा में सक्षम कदम है और है करुणा, अनेकान्त, अपरिग्रह, शोपण-विमुक्ति, सह-अस्तित्व, निःशस्त्रीकरण और शाकाहार जैसे भावों की संवाहिका। इसी प्रकार धर्म उनके लिए परम्परा का पोपण नहीं, वरन् गतिशीलता का नाम है, सत्य के निकट पहुँचने की निरंतर तलाश का नाम है, इसीलिए वे धर्म की परिवर्तनशीलता और व्यवहारिकता के पक्षधर हैं।

मुनि श्री की साहित्य-साधना निरन्तर गतिशील है। साहित्य को उन्होंने मनोरंजन की वस्तु न मानकर, उसे आत्मशोधन की प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने अपने गहन अध्ययन, तीव्र संवेदन और व्यापक अनुभव के आधार पर जो कुछ लिखा है, वह साधना के आलोक से मंडित है। इसीलिए पाठक उसमें डूबता है, रमता है, रिसता है, केवल तैरता भर नहीं।

सुप्रसिद्ध विद्वान लेखक डॉ० रामप्रसाद त्रिवेदी ने इस कृति द्वारा श्री गणेश मुनि शास्त्री के साधक और सर्जक रूप की बड़े तटस्थ भाव से मूल्यात्मक संवीक्षा की है। लेखक ने मुनि श्री के जीवन प्रसंगों, धर्म और दर्शन सम्बन्धी उनके विचारों, उनकी गद्य-पद्य कृतियों, उनकी शोध-अनुशीलन वृत्ति आदि का इस ढंग से प्रतिपादन किया है कि अन्त तक सरसता एवं प्रवाहशीलता वनी रहती है। संतों को अपने व्यक्तिगत जीवन के वारे में सार्वजनिक रूप से कुछ कहने में संकोच वना रहता है। श्री गणेशमुनि शास्त्री भी इस के अपवाद नहीं हैं। किन्तु लेखक ने वड़े कौशल से "मेरे प्रश्न : मुनि श्री के उत्तर" अध्याय में उनके जीवन, कृतित्व एवं आचार के सम्वन्ध में कई महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ देकर मुनि श्री के साधक और सर्जक रूप को समझने के लिए एक प्रकार से प्रामाणिक सामग्री प्रस्तुत कर दी है।

हमारे यहाँ आधुनिक संतों के जीवन और कृतित्व पर बहुत कम लिखा गया है। लेखक ने इस कृति द्वारा मुनि श्री के साहित्यिक व्यक्तित्व और दाय की जो विषयगत विवेचना और समीक्षा प्रस्तुत की है, उससे निश्चय ही एक अभाव की पूर्ति हुई है। इसके लिए मैं लेखक को साधुवाद देता हूँ।

पुस्तक का समस्त वर्ण्य विषय दिलचस्प एवं सुन्दर है। भाषा में प्रवाह, शैली में गांभीर्यता है। वर्तमान में लिखे जाने वाले जीवन-परिचयों में प्रस्तुत उपक्रम एक नया उन्मेष है। मुझे पूरा विश्वास है कि यह कृति श्री गणेश मुनि शास्त्री के समग्र व्यक्तित्व को समझने परखने में महत्त्वपूर्ण घटक सिद्ध होगी।

—डॉ० नरेन्द्र भानावत
प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
सम्पादक—जिनवाणी
मानद् निदेशक, आचार्य श्री विनयचन्द्र
ज्ञानभंडार, शोध प्रतिष्ठान, जयपुर

९ नवम्बर १९७४
सी—२३५ ए, तिलकनगर
जयपुर-४

मंजिलें



इस पथ का उद्देश्य नहीं है, श्रांत भवन में टिक रहना,
किन्तु पहुँचना उस सीमा तक, जिसके आगे राह नहीं।

—'प्रसाद'

अध्याय १

साधना के प्रस्थान-बिन्दु : एक शब्दचित्र

मंझला कद !

गौरवर्ण !!

मस्तक पर तर्कजाल-सी उलझी रजतवर्णी केश-राशि !!!

भव्यनेत्र—अनुराग और प्रज्ञा-दृष्टि के दो चषक !

श्वेत-शुद्ध खादी के परिधान—स्वच्छ और वैराग्यपूरित हृदय के संकेत-चिह्न !

नंगेपाव—संसार के दुर्गम स्थलों पर पहुँचने की उत्कट अभिलाषा के प्रतीक !

चश्मे के पीछे झाँखती आँखें—गहन अन्तर्दृष्टि और मानवहृदय की पहचान को उजागर करती दीप शिखा !

अधरों पर मधुर स्मित-रेखा—मानो दुनिया के आडम्बरों पर दीवाने जन-समाज को भरसक रोकने की स्नेहिल चेतावनी ! व्यंग्य नहीं, अपितु ममता की पहली फुहार !

मंथरगति—साधक के गम्भीर चिन्तन की प्रथम पहचान ! जल्दबाजी में कुछ भी अशोभनीय न करने की दृढ़भीति !!

साथ-व्यवहार—सज्जनों के साथी, दुर्जनों से कोसों दूर ! साधु-समागम की उत्कट आकांक्षा के प्रतीक ! गुरु-भाईयों को सद्-संगति ! शिष्यों को वैराग्य की उत्कट-साधना के सबल प्रशिक्षक !

व्यवसाय—अध्ययन-मनन-प्रवचन-ज्ञानउर्मियों के प्रत्यक्ष अनुभवी साधक ! धर्म, दर्शन तथा काव्य के आराधक ! वैराग्य तथा तप की

अग्नि से प्रज्वलित किन्तु अनुभूति, कल्पना एवं भाषा के कोमलतम पक्षों के गायक !

संग्रह—अध्यात्म और दर्शन की नव्यतम रचनाओं का विशाल संग्रह ! चलते-फिरते पुस्तकालय ! जीवन के शाश्वत मूल्यों की अनवरत शोध ! मानवीय समस्याओं को सुलझाने की उत्कट आकांक्षा की प्रतिमूर्ति !

सेवा—गुरु के श्रीचरणों की ! दुःखी और निराश आराधक की ! विस्तृत मानव-समाज के उपेक्षित अंगों की ! साधक और सहिष्णु ज्ञानार्थी की !

आराधना—जैनधर्म के शाश्वत आदर्शों की ! श्रमण-परम्परा के गौरवशाली अभियान की ! साहित्य, दर्शन तथा कला के मनस्वी विचारकों की अमूल्य-निधि की !

और क्या ? और वह सब कुछ जो मानव के उद्भ्रांत हृदय को स्वस्थ दिशा दे—जो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को ज्ञान की रोशनी से चकाचौंध कर दे—मानवीय गरिमा को अक्षय-अभय वरदान दे—मानव के मोहान्ध हृदय को अनासक्ति तथा अपरिग्रह की दिव्य-ज्योति दे—कलपम तथा कटुता की खाइयों को पाट दे—"तमसो मा ज्योतिर्गमय" की उत्कट प्रेरणा दे—विश्वबन्धुत्व तथा जग-मैत्री का अमोघ मंत्र दे—आपसी भेद-भाव तथा हार्दिक वैमनस्य के घावों पर स्नेह-शीतल मलहम का लेपन करे—जीवन के सन्मार्ग पर अथक यात्रा की ध्रुव-आस्था दे—जीवन के मधुवन में विषय-वासना की अनास्था पर रोक लगाये—जर्जर और दुर्बल प्राणों को नयी सामर्थ्य दे—जीवन में फैली निराशा और हीनता के हलाहल को पीकर नीलकंठ बने—

साधना के अविराम-पथ के इस साहसी पथिक ने इन सारी सिद्धियों का शत-शत अभिनन्दन किया है ! मनुष्य की कोमल अनुभूतियों के इस स्वर-साधक ने अपनी रचनाओं में विराट् आदर्शों की संगीत-रश्मि बिखेरी है ! साधना, वैराग्य और ज्ञान के इस चिर-आराधक ने अपनी विचारधारा में मंगल-कामना के स्पष्ट मंत्रोच्चार किये हैं !

उसे आशा है—विचारों के क्षेत्र में अभिनव-क्रान्ति होगी—म्रियमाण मानव-जाति ज्ञान की संजीवनी से नई स्फूर्ति प्राप्त करेगी—भ्रामक आदर्शो की ध्वजा टूटेगी ! वास्तविक सुख की खोज में धरती-पुत्र मानव नया अभियान करेगा !!

उसे प्रतीक्षा है—मंगलमय वर्तमान की और दूरागत भविष्य की, जो समता और सहानुभूति का पाठ पढ़ायेगा ! जाति, धर्म, मजहब की संकीर्ण काराओं को खंडित कर जो स्नेह, प्यार तथा सहिष्णुता की अजस्र धारा से मानव-समाज को अभिसिंचित करेगा !

वह आमंत्रित करता है—साधना के मार्ग पर गतिशील श्रमण-परम्परा को, जो राष्ट्र एवं समाज के स्वप्नों को नया आकार दे—जो वीतराग होकर भी नव-निर्माण की वास्तविक प्रेरणा दे—व्यक्तिगत-तप से प्राप्त मणि-मुक्ताओं को मुक्त हाथों से लुटाये—अपनी ज्ञान-राशि से सुपुप्त आत्मा को जागरण का स्वर दे !

उसे हर्ष है—कि वह आध्यात्मिक-जीवन के विशाल-यज्ञ में आहुति देने को समर्पित है—कि यथासंभव तथा यथाशक्ति मानव-कल्याण के दुर्गम पथ पर गतिशील है—कि झूठे आकर्षणों तथा आडम्बरों से तटस्थ है—कि अपने लघु प्रयास से बृहत समाज की सेवा में—संकल्प लेकर प्रस्तुत है !!!

अध्याय २

जीवन-दर्शन

प्रस्तावना :—राष्ट्र-संत और जैन-दर्शन के प्रमुख मनीषी उपाध्याय अमरमुनि ने श्री गणेश मुनि जी के व्यक्तित्व के संदर्भ में एक संक्षिप्त किंतु सार्थक वात कही है—"श्री गणेश मुनिजी एक सरल, शांत, भावनाशील एवं युवकोचित उत्साह से युक्त श्रमण हैं।"[1] महापुरुषों के कथनों में एक विशिष्ट अर्थ-गौरव होता है और इसीलिए इस उक्ति में मुनिजी के ज्वलंत व्यक्तित्व पर जिस सीमा तक प्रकाश पड़ता है, वैसा एक बृहत् संदर्भ ग्रंथ की रचना द्वारा भी संभव नहीं है। भारतीय संत-परंपरा में तो अधिकांश संतों ने अपने जीवन के वारे में मौन ही धारण कर रखा है और समय के लंवे अंतराल ने उनके जीवनी को इतना रहस्यपूर्ण वना दिया है कि आज के शोधकर्त्ताओं तथा अन्वेषकों के लिये यह सवसे जटिल प्रश्न है। कितने महान् संतों की प्रामाणिक जीवनी के अभाव में हम दंत-कथाओं का आश्रय लेने लगते हैं और उनके जीवन के विच्छिन्न सूत्रों को एक धागे में पिरोना कठिन हो जाता है। महान पुरुषों की जीवनी राष्ट्र की भावी पीढ़ी को प्रेरणा देती है और सत्कर्मों की ओर प्रवृत्त करती है। एक औसत भारतीय मस्तिष्क की यह विचित्रता है कि वह संतों के जीवन में लौकिकता को सर्वथा नगण्य मानकर अलौकिकता को ही महत्त्व देने लगता है और संत-जीवन के लौकिक तथ्य भी अलौकिक व्याख्या पाकर रहस्यवादी हो जाते हैं। फलस्वरूप संतों के जीवन-प्रसंगों को सही संदर्भ देना कठिन हो जाता है और रहस्य के धूम्र में तथ्य ओझल होने लगते हैं। इसीलिए आवश्यकता इस वात की है कि संतों की प्रामाणिक जीवनी की

१. देखिये, भगवान महावीर के हजार उपदेश।

खोज करते हुए उनके जीवन का वास्तविक बिंब जनमानस के समक्ष प्रस्तुत किया जाय।

गणेश मुनिजी का जीवन साधना के पवित्र सूत्रों से संचालित और मानवीय गुणों से उत्प्रेरित है। गृहस्थजीवन की कंटकाकीर्ण वीथी से असंपृक्त होकर पिछले तीन दशकों से वे वैराग्य के राजमार्ग के धीर पथिक हैं। समाज में एक प्रचलित मान्यता है कि—"लीक छाँड़ि तीनों चलें सायर, सिंह, सपूत।" मुनि जी हृदय से शायर (कवि) और सपूत दोनों हैं अत: किसी बँधी बँधाई परंपरा का अनुगमन उनके स्वभाव के विरुद्ध है। गृहस्थ-जीवन की परम्परागत श्रृंखलाओं को उन्होंने लगभग पंद्रह वर्ष की अल्पायु में ही तोड़कर फेंक दिया था और उसी समय हिन्दी के प्रसिद्ध कवि के शब्दों में यह निर्णय लिया था—

मानव बनकर आये हो, विद्रोही बनकर चलना,
तपःपूत हो तप के 'आँगन में, दिन-रात पिघलना,
जीवन वही कि जिसकी लौ धरती को नभ से बाँधे-
बैठो मेरे पास, सुनो, मंगल दीपक-सा जलना।

—केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'

साधना के भव्य प्रांगण में मंगल दीपक-सा जलने का निर्णय क्षणिक नहीं होता और न इसे आकस्मिक ही कहा जा सकता है। ऐसे निर्णय हृदय और मस्तिष्क के गंभीर घात और प्रतिघात के परिणाम होते हैं और इनके पीछे पूर्वजन्मों के संचित संस्कार भी सक्रिय होते हैं। अन्यथा पंद्रह वर्ष की वय में, जबकि किशोर-मानस यौवन का स्वागत करने के लिए प्रस्तुत हो जाता है, कल्पना और अभिलाषा की रंगीन क्षितिजरेखा मन को सुनहले स्वप्नों में डुबा देती है, भावी जीवन की सुखद अनुभूतियाँ मन को चंचल कर देती हैं, वैराग्य का निर्णय पर्याप्त कठिन और कष्टकारक होता है। भोग और योग में केवल एक अक्षर का ही अन्तर नहीं है, अपितु सम्पूर्ण जीवन प्रक्रियाका अन्तर है। भोग और वैभव की मदिरा का परित्याग कर वैराग्य और साधना का तिक्त पेय भला किसके गले उतरता है? इसीलिये कबीर ने बड़े साहस के साथ यह चेतावनी दी थी—

हम घर जाल्या आपणां, लिया मुराड़ा हाथि ।
जो घर फूकै आपणां, चलै हमारे साथि ॥

माता-पिता का प्रेम, भाई-बहन की आत्मीयता और सगे-सम्बन्धियों की स्नेह-छाया को छोड़कर भक्ति के उदासीन पथ पर चल देना इतना सरल नहीं है। यह किसी कायर का निर्णय न होकर आत्मविश्वासी और आत्मबली साधक का ही संकल्प होता है। कबीर जैसे अनुभवसिद्ध कवि का यह अटल विश्वास था—

भगति दुहेली राम की, नहिं कायर का काम ।
सीस उतारे हाथ करि, सो लेसी हरिनाम ॥

तपस्वी को प्राचीन ग्रन्थों में भी वीर योद्धा की संज्ञा से विभूषित किया गया है—

तव नाराय जुत्तेण
भित्तूण कम्मकंचुयं ।
मुण विगय संगामो,
भवाओ परिमुच्चई ।

[अर्थात् साधक वीर योद्धा है, तप उसका धनुष है, जिससे वह कर्मों के दुर्भेद्य कवच को नष्ट कर भय से मुक्त हो जाता है।]

जन्म और जन्मभूमि :—श्रमणपरम्परा के जगमगाते रत्न श्री गणेश मुनिजी का जन्म राजस्थान की पवित्र भूमि में स्थित उदयपुर जिला के अन्तर्गत करणपुर नामक ग्राम में सन् १९३१ को हुआ था। राजस्थान की वसुन्धरा वीर-प्रसू तो है ही, धर्म और कर्म की साक्षात तपोभूमि भी है। यहाँ का प्राचीन इतिहास इतना गौरवपूर्ण है कि इस भूमि के कण-कण में शौर्य, पराक्रम, वलिदान, औदार्य, त्याग तथा साहित्य-साधना की अगणित कहानियाँ लिपटी हुई हैं। कर्नल टॉड जैसे प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता ने स्वतन्त्रता की वलिवेदी पर आत्मोत्सर्ग करने वाले राजस्थान के महान पराक्रमी योद्धा की वीरता का सुन्दर इतिहास लिपिवद्ध किया है और विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने यहाँ के चारण-साहित्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। यही वह साधनाभूमि है, जहाँ

मीरा जैसी अप्रतिम साधिका ने 'अँसुवन जल सींचि-सींचि प्रेम-बेलि बोई' के भक्तिपरक गीत लिखे और रसराज शृंगार की साधना करते हुए महाकवि बिहारी ने सतसैया के दोहे लिखे। महाराणा उदयसिंह की अमर कीर्ति को हृदय में छिपाये उदयपुर आज भी राजस्थान का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण जनपद है। इसी उदयपुर के क्रोड़ में बसे करणपुर गाँव को महाराज श्री की जन्मभूमि होने का गौरव प्राप्त है।

पावन-प्रेरणा—मुनिजी के पिता श्री लालचंद जी पोरवाल करणपुर गाँव में व्यवसाय करते थे और मितभाषी तथा स्वभाव से विनम्र होने के कारण ग्रामीण समाज में उनकी अच्छी प्रतिष्ठा थी। वे इस गाँव के एक विशिष्ट नागरिक के रूप में सम्मानित थे। उनकी धर्मपत्नी श्रीमती तीजकुँवरबाई एक संस्कारी महिला थीं और पति-पत्नी दोनों सुख-शांति का जीवन-यापन कर रहे थे। लेकिन कभी-कभी नियति का व्यंग बड़ा निर्मम होता है। श्री लालचन्द्र जी ने अभी जीवन के केवल बत्तीस वसन्त ही देखे थे कि उनका आकस्मिक देहावसान हो गया। यह घटना इतनी भयावह थी कि इसने श्रीमती तीजकुँवरबाई के जीवन में एक अप्रत्याशित मोड़ ला दिया। पति-वियोग ने यद्यपि उनके जीवन को असह्य मानसिक आघात दिया, किन्तु उन्होंने दृढ़ता तथा साहस के साथ जीवन की चुनौतियों को स्वीकार किया। अपनी संतानों के प्रति उनका जो पुनीत कर्त्तव्य था, उसको उन्होंने भलीभाँति निभाया और उनका पालन-पोषण बड़ी तत्परता से किया। लेकिन पति के हृदय-विदारक अवसान ने उनके मानस में सोये धार्मिक संस्कारों को प्रज्वलित कर दिया और क्रमशः वे लौकिक जीवन के प्रति विरक्ति का अनुभव करने लगीं। एक बार महाराज श्री के ननिहाल बागपुरा ग्राम में सौजन्यमूर्ति साध्वी श्री प्रभावती जी ने वर्षावास किया था। वहीं श्रीमती तीजकुँवरबाई का साध्वीजी से धार्मिक संपर्क हुआ और सत्संग के परिणामस्वरूप वैराग्य की भावनाओं ने आकार ग्रहण कर लिया। उन्होंने बड़ी दृढ़ता के साथ गृहस्थ-जीवन की उलझनों से मुक्ति पाकर दीक्षा-पथ ग्रहण कर लिया और आज भी महासती श्री प्रेमकुँवर महाराज के नाम से विख्यात

होकर उस अनंत साधना में लीन हैं, जिसकी न कोई सीमा है और न कोई क्षणिक संतुष्टि। साधना तो शाश्वत यात्रा है, उसमें पड़ाव हैं, किन्तु अन्तिम मंजिल नहीं।

श्री गणेश मुनिजी के बचपन का सांस्कारिक नाम श्री शंकरलाल पोरवाल था और वे अपने पिताजी की दूसरी सन्तान हैं। आपके अग्रज श्री भँवरलाल जी और अनुज श्री टेकचन्द जी वर्तमान समय में बागपुरा ग्राम के निवासी हैं और सदगृहस्थ हैं। आपकी छोटी बहन सौभाग्यवती बदनबाई हैं, जो मनावद ग्राम में सपरिवार रहती हैं। अपनी मातुश्री के प्रति गणेश मुनिजी में अटूट श्रद्धा और भक्ति है। माँ के वैराग्यपूर्ण जीवन ने उन्हें अध्यात्म की ओर अभिप्रेरित किया है और बचपन के 'शंकर' को किशोरावस्था में 'गणेश' रूप में परिणत कर देने में उनका सक्रिय योगदान है। वैराग्य की अवधारणा को जीवन का मूल मंत्र मानकर गतिशील होने वाले गणेश मुनि जी माँ की सुखद ममता और विरक्ति भावना के सम्यक् ऋणी हैं।

मुनिदीक्षा और गुरुगौरव—भगवान महावीर का उपदेश है—'सूरोदये पासति चक्खुणेव' अर्थात् सूर्योदय होने पर भी चक्षु के बिना देखना असंभव है। उसी प्रकार स्वयं में कोई कितना ही विज्ञ क्यों न हो तथापि गुरु अथवा मार्गदर्शक के अभाव में तत्त्वदर्शन संभव नहीं है। जन्म-जन्मान्तर के सत्संस्कार भी तभी जाग्रत होते हैं, जब योग्य दिशा-निर्देशक प्राप्त होता है। मन की अन्धकाराच्छन्न प्रवृत्तियों का विनाश गुरु की तेजस्विता ही कर सकती है। यद्यपि गणेश मुनि जी के मानस में बचपन से ही वैराग्य भावना कि रश्मियाँ फूट रही थीं, किन्तु उस भावना को साकार रूप देने के लिए महान गुरु तथा मार्गदर्शक की आवश्यकता थी। वे उन भाग्यशाली सन्तों में हैं, जिन्हें सद्गुरु की प्राप्ति होती है और साधना में गुरु के साहचर्य का अधिकाधिक सुयोग मिलता है।

उन्होंने राजस्थान केसरी पण्डितरत्न श्रद्धेय श्री पुष्कर मुनिजी महाराज साहब के सौम्य व्यक्तित्व से आकर्षित होकर सन् १९४६ में



शंकरलाल पोरवाल
[श्री गणेशमुनि जी शास्त्री दीक्षा के पूर्व]

आसौज शुक्ला दशमी को मध्यप्रदेश में धार नामक स्थान पर मुनि दीक्षा स्वीकार कर उनका शिष्यत्व ग्रहण किया। मुनिजी के गुरुदेव की साधना और व्यक्तित्व दोनों ही महान हैं। मानवीय चेतना के उर्ध्वमुखी सोपानों पर आरोहण करते हुए श्री पुष्कर मुनिजी महाराज ने ऐसे अनेक सुयोग्य शिष्यों का मार्गदर्शन किया है, जो साधना के क्षेत्र में विशिष्ट कार्य कर रहे हैं। सौम्यमूर्ति श्री हीरा मुनिजी तथा ज्ञान के सतत आराधक श्री देवेन्द्र मुनिजी, श्री गणेश मुनिजी के गुरु भ्राता हैं जिनकी उल्लेखनीय कृतियों ने जैन वाङ्मय के विकास में प्रशंसनीय योग दिया है। महान गुरु की छत्र-छाया में इन सन्तों ने साधना की लम्बी दूरी तय की है और आज भी गुरु-सेवा में मनसा, वाचा और कर्मणा लीन हैं। मनस्वी सन्तों की परम्परा का विकास असाधारण कार्य है और इस कार्य को बड़े शानदार ढंग से श्रद्धेय पुष्कर मुनिजी ने संपादित किया है। स्थानकवासी जैन परम्परा में उनका विशिष्ट स्थान है।

महान गुरु की प्रेरणा और आशीष से गणेश मुनिजी आत्मज्ञान की प्रशंसनीय उपासना कर रहे हैं। व्यक्तित्व का चतुर्दिक् विकास करके उन्होंने अपनी आध्यात्मिक साधना को और भी गौरवशाली बनाया है।

ज्ञान सरिता का अवगाहन—भारतीय सन्त-परम्परा तो प्रारम्भ से ही 'कागद की लेखी' की अपेक्षा 'आँखिन की देखी' को अधिक प्रामाणिक मानती आयी है। सन्तों का जीवन तो स्वयं एक पाठशाला है जिसमें निरन्तर ज्ञान-सरिता का अवगाहन होता रहता है। उनके अध्ययन की भी एक विशिष्ट पद्धति होती है, जिसमें परीक्षा प्रणाली का उतना महत्त्व नहीं होता, जितना एक सामान्य विद्यार्थी के लिए परीक्षा और उपाधि का महत्व होता है। सन्तों की शिक्षा-दीक्षा तो उनकी साधना ही है और वह साधना का बाह्य न होकर आन्तरिक होती है। अतः उन्हें डिग्री या उपाधि की उतनी चिन्ता नहीं होती, जितनी वास्तविक ज्ञान की।

गणेश मुनिजी स्वभाव से अध्ययनशील हैं और आज भी उनका अधिकांश समय अध्ययन, मनन, चिन्तन एवं लेखन में व्यतीत होता है।

पुस्तकें उनकी सबसे निकट सहयोगी हैं, जिनसे वे मौन वार्तालाप करते हैं। सांसारिक विषयों से तटस्थ होकर ज्ञान की पवित्र मंदाकिनी से उनका प्रत्यक्ष सम्पर्क सदैव बना रहता है। प्राचीन पोथी से लेकर सद्यः प्रकाशित कृतियों में वे बराबर रुचि रखते हैं और समानधर्मा को पाकर हृदय से उल्लसित होते हैं। जैन-दर्शन हो अथवा समसामयिक सामाजिक विचार-धारा हो, उसकी गम्भीर विवेचना में उनको सर्वाधिक आनन्द प्राप्त होता है। अध्ययन और चिन्तन के क्षेत्र में वे किसी संकीर्ण दृष्टि से बँधे हुए नहीं हैं। ऐसा नहीं है कि वे केवल आध्यात्मिक ग्रन्थों का ही पारायण करते हों, बल्कि शुद्ध काव्य और साहित्य के भी वे मुक्त प्रशंसक हैं। साहित्य, दर्शन, विज्ञान, और आध्यात्मिक वाङ्मय उनके सबसे प्रिय विषय हैं। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी आदि कई भाषाओं पर उनका अच्छा अधिकार है और कुछ भाषाओं में उन्होंने उपाधियाँ भी ससम्मान प्राप्त की हैं। नई-से-नई विचारधारा को हृदयंगम करके उसके औचित्य-अनौचित्य का वे निरन्तर अनुशीलन करते रहते हैं। पुस्तकों के अतिरिक्त मासिक और दैनिक पत्र-पत्रिकाओं का भी वे अध्ययन करते हैं और अपने ज्ञान-कोष की अभिवृद्धि के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हैं।

रचनात्मक प्रतिभा का प्रस्फुटन—श्री गणेश मुनिजी के व्यक्तित्व में आध्यात्मिक प्रेरणा के साथ-साथ रचनात्मक प्रतिभा का मणि-कांचन संयोग है। उन्होंने अब तक विभिन्न आध्यात्मिक और सामाजिक विषयों पर कई कृतियों की रचना की है, जिनमें से लगभग डेढ़ दर्जन पुस्तकें, देश की कई प्रकाशन संस्थाओं से प्रकाशित हो चुकी हैं। वे एक अच्छे कवि और गायक कलाकार हैं तथा काव्यमयी कृतियों की रचना करके अपनी प्रतिभा का समुचित प्रमाण दिया है। भारतीय पण्डितों ने साहित्य-निर्माण के उपादानों की चर्चा करते हुए प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास की परिगणना की है। इनमें प्रतिभा को सर्वाधिक महत्त्व देते हुए भी लोकज्ञान और अध्यवसाय को प्रतिष्ठा दी गई है। प्रतिभा में नवनिर्माण की सर्वाधिक क्षमता होती है, किन्तु व्युत्पत्ति और अभ्यास के अभाव में

उसका समुचित संचरण नहीं हो पाता। मुनिजी प्रतिभाशाली सन्त तो हैं ही, साथ ही उन्होंने बड़ी निष्ठा एवं लगन से अध्ययन के द्वारा पांडित्य भी अर्जित किया है। उनका साहित्य विपुल मात्रा में प्रकाशित होकर जैन समाज में लोकप्रियता अर्जित कर चुका है। उनकी कतिपय मौलिक रचनाओं का अनुवाद अन्य भाषाओं में भी हुआ है। वैराग्य की शुष्क साधना के मध्य मुनिजी ने सरस रचनात्मक प्रतिभा की स्रोतस्विनी हमेशा प्रवाहित की है। एक प्रतिभासंपन्न कवि होने के साथ-साथ वे एक सुलझे हुए विचारक और सफल निवन्धकार भी हैं। विचारों के धनी और लेखनी के सिद्धहस्त कलाकार श्री गणेश मुनिजी की मान्यताओं तथा कृतियों का विशद अध्ययन चूँकि इस पुस्तक के अगले अध्यायों में प्रस्तुत किया जा रहा है, अतः यहाँ उनकी रचनात्मकता का संक्षिप्त उल्लेख ही समीचीन है।

मधुरवक्ता : सफल धर्मप्रचारक—खड़ी वोली हिन्दी के प्रथम महाकवि अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' जी ने एक स्थल पर लिखा है—

भेद कितने विन खुले ही रह गये,
आज तक भी आपने खोले नहीं।
आपका मुख ताकते ही रह गये,
आप तो मुँह भर कभी वोले नहीं।

सचमुच मानव-हृदय की आकांक्षाओं की जितनी स्पष्ट अभिव्यक्ति उसकी वाणी के द्वारा सम्भव है, उतनी लेखनी के द्वारा भी नहीं। लेकिन वाणी का प्रभाव श्रोता समाज पर तव पड़ता है जव वक्ता मितभाषी हो, उसके विचारों में तर्कसंगति हो और अपने कथनों को सुलझे रूप में रखने की कला का जानकार हो। सन्तों के कथनों में उपदेशामृत ही अधिक होता है अतः जन-समाज को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए अनेक युक्तियों से अपनी वाणी को मर्मस्पर्शी वनाना पड़ता है। अंग्रेजी में एक कहावत है कि महान वक्तृता के लिए केवल वक्ता ही आवश्यक नहीं है वल्कि महान विषय और महान अवसर को भी अपेक्षा होती है। Three things

are needed for great oratory; not the orator only, but a great theme and a great occasion. —V. Samuel.

मुनिजी के व्यक्तित्व का एक अत्यन्त सशक्त गुण उनकी प्रवचन-शैली है। विस्तृत जनसमुदाय हो अथवा भक्त जनों की छोटी मंडली हो, वे अपनी मान्यताओं को इतने सुन्दर ढंग से प्रस्तुत करते हैं कि सभी लोगों पर उसका समुचित प्रभाव पड़ता है। प्रायः धार्मिक प्रवचनों में लोग कम रुचि लेते हैं, लेकिन मुनिजी के प्रवचन इसके अपवाद हैं। ओजस्विता और मधुरता से ओतप्रोत उनके प्रवचन सहस्रों नरनारियों को अभिभूत कर देने में समर्थ हैं। विषय को सरल से सरल बनाकर उसे रूपक तथा लघुकथाओं से सुसज्जित कर और प्राचीन तथा नवीन कथाओं की सूक्तियों से प्रमाणित कर इतने प्रभावशाली ढंग से वे कह देते हैं कि लोग घन्टों तक मंत्रमुग्ध होकर सुनते हैं। घड़ी की सुइयाँ आगे खिसकती रहती हैं किन्तु भक्तों को समय का पता ही नहीं चलता है। सामाजिक, धार्मिक तथा सामान्य जीवन के प्रश्नों पर भी वे इतने सरस प्रवचन देते हैं कि सभा का वातावरण ही बदल जाता है। जब कभी मन में तरंग आती है तो मुनिजी अपने कोमल कंठस्वर से ऐसी रागिनी छोड़ते हैं कि सारा वातावरण रस-विभोर हो उठता है। वाणी और लेखनी का जादू बहुत कम सन्तों को प्राप्त होता है, लेकिन मुनिजी को ये दोनों सिद्धियाँ अविकल रूप से प्राप्त हैं। वाणी की मधुरता तथा विषय-प्रतिपादन की आकर्षक शैली के माध्यम से वे विस्तृत जन-समाज को आकर्षित करने की कला में निपुण हैं।

मुनिजी के जीवन का सबसे पुनीत लक्ष्य है—जैनधर्म का प्रचार और श्रमणसंस्कृति का अभ्युत्थान। इसके लिए वे निरन्तर प्रयत्न करते रहते हैं कि धर्म प्रचार के कार्य में किसी प्रकार की बाधा न उपस्थित हो। भक्तजनों के हृदय को उद्बुद्ध कर वे धर्म की पताका को ऊपर उठाये रखने के लिए अभिप्रेरित करते हैं। सुबह से शाम तक उनके पास भक्त और श्रद्धालु जनता का आवागमन बना रहता है। वैयक्तिक कुशलक्षेम से चर्चा आरम्भ होती है और उसकी परिणति धर्म और दर्शन की अतल गहराई में होती है। सफल धर्म प्रचारक वही हो सकता है जो स्वयं

अपने जीवन को आदर्शोन्मुख रखे तथा कर्म और वचन के वीच कोई अन्तराल न आने दे। जिन लोगों को मुनिजी के अत्यन्त निकट रहने का सौभाग्य मिला है वे यह जानते हैं कि मुनिजी एक अनासक्त क्रियाशील साधु हैं, जिन्हें वड़ा-से-वड़ा सांसारिक प्रलोभन भी अपने कर्त्तव्य-पथ से विचलित नहीं कर सकता। आज सामाजिक जीवन में जिस प्रकार आपसी वैमनस्य और कटुता का वातावरण छाया हुआ है, उसमें सद्भाव और सौमनस्यता का मंत्र देने वाली गणेश मुनिजी की साधु वाणी विशिष्ट महत्त्व की अधिकारिणी हैं।

रमते योगी—मुनिजी के जीवन की सादगी और स्वच्छताओं को देखकर मुझे वालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की निम्नलिखित पंक्तियाँ याद आती हैं :—

हम अनिकेतन, हम अनिकेतन !
हम तो रमते राम, हमारा क्या घर, क्या दर, कैसा वेतन ?
अव तक इतनी यों ही काटी,
अव क्या सीखें नव परिपाटी ?
कौन बनाए आज घरोंदा
हाथों चुन-चुन कंकड़-माटी !
ठाट फकीराना है अपना, वाघम्वर सोहे अपने तन !

इन पंक्तियों में एक रमते योगी का वास्तविक चित्रण है। मुनिजी भी इस अर्थ में सच्चे रमते योगी हैं। क्योंकि उनका कोई निश्चित घर, प्रांत, अथवा देश नहीं है। प्राचीन इतिहास इस वात का साक्षी है कि अनेक वौद्ध भिक्षुओं ने धर्म-प्रचार के लिए वड़ी लम्वी पदयात्रायें की जैन साधु भी पद-यात्रा अथवा विहार को साधना का महत्त्वपूर्ण अंग मानते हैं। घर अथवा घरोंदे की मोह-माया से दूर जैन साधु भी वर्ष के चार महीनों को छोड़कर शेष समय विहार में ही व्यतीत करते हैं। गणेश मुनिजी ने भी देश के एक कोने से दूसरे कोने तक दुर्गम स्थानों की पद-यात्रा करके अपना मंगल संदेश जन समाज तक पहुँचाया है। यात्रा छोटी हो अथवा वड़ी, उसमें असुविधायें वनी रहती हैं किन्तु इन असुविधाओं की चुनौतियों का सामना करते हुए मुनि-समाज के साथ वे

निरन्तर भ्रमण करते रहते हैं। जमकर एक स्थान पर बैठ जाना अथवा उदरपूर्ति के लिए मठ स्थापित करना उनकी दृष्टि से महापाप है। दैनिक जीवन के उपयोग की वस्तुएँ साथ लिये हुए नंगे पाँव इधर से उधर यात्रा करना पर्याप्त कठिन कार्य है। लेकिन धर्मप्रचार की उत्कृष्ट अभिलाषा लेकर मानव-समाज को उत्प्रेरित करने में उन्हें विशेप आनन्द आता है। गरीव हो चाहे अमीर, किसी भी सद्गृहस्थ के घर जाकर गोचरी ले आना उनका दैनिक कार्य है।

वर्तमान समय में महाराज श्री के दो प्रमुख शिष्य हैं—श्री जिनेन्द्र मुनि, साहित्यविशारद, काव्यतीर्थ तथा विद्याविनोदी श्री प्रवीण मुनि, जैनसिद्धांतप्रभाकर। इन शिष्यों को साथ लेकर तथा गुरु वन्धुओं के साथ गणेश मुनिजी ने हजारों मील की दुर्गम पदयात्रा की है और इस क्रम में राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश तथा दिल्ली आदि कई प्रान्तों के जन-समाज को अपना शुभ संदेश दिया है। मुनिजी का मुख्य साधना केन्द्र यद्यपि राजस्थान है, किन्तु वे किसी प्रान्त अथवा भाषा की चौहद्दो में बंधे हुए नहीं हैं। वे तो विश्व मानवता के अनुरागी हैं। धार्मिक सहिष्णुता और उदार सांस्कृतिक दृष्टिकोण से युक्त साधु-समाज संकुचित मनोवृत्तियों का विरोधी होता है। शारीरिक कष्टों की परवाह न करते हुए मुनिजी ने आत्म-संयम के वल पर अनेक धर्म-यात्राएं की हैं और आज भी वे नित्य विहार करते हुए धार्मिक आस्थाओं का पुनीत सन्देश सुना रहे हैं।

अनोखा व्यक्तित्व—पंडित प्रवर श्रद्धेय श्री गणेश मुनिजी स्थानकवासी जैन समाज के एक ज्वलंत सन्त हैं। उनके व्यक्तित्व में साधना और वैराग्य, ज्ञान और श्रद्धा; दृढ़ता और सरलता का अनोखा समन्वय है। स्थानक वासी जैन समाज उनके पांडित्य और उज्ज्वल चरित्र पर गौरव का अनुभव करता है। स्वभाव से विनम्र और मिलनसार होने के कारण उनका व्यक्तित्व सवसे निराला है। श्वेत परिधान से आच्छादित उनका शरीर हृदय की निर्मलता का भी प्रतीक है। प्रातःकाल से लेकर संध्या तक अपनी दैनिक क्रियाओं के अतिरिक्त वे अधिकांश समय स्वाध्याय और

भक्तों को उपदेशामृत पिलाने में व्यतीत करते हैं। अपनी साधना तथा ज्ञान के प्रति उनके मन में लेश-मात्र भी गर्व नहीं है। निरभिमानी किन्तु आत्मबली सन्त के रूप में उन्होंने अच्छी ख्याति अर्जित की है। मुनिजी का बाह्य व्यक्तित्व अपनी प्रथम झलक में ही दर्शक के मन पर अमिट प्रभाव अंकित कर देता है। खादी के शुभ्र परिधान को धारण किये और मुख पर साधना की दृढ़ता लिये हुए, भरी पूरी काया से संपन्न उनका तेजोद्दीप्त भाल और नुकीली नासिका के मध्य टिके हुए चश्मे के भीतर से झाँकती उनकी मर्मभेदिनी आँखें व्यक्तित्व को नूतन आकर्षण दे देती हैं। भक्तों से धर्मचर्चा करते समय वे दैनिक जीवन में काम आने वाले उदाहरणों से ऐसी अनूठी उपमायें ढूँढ़ लाते हैं कि सुनने वाला चकित हो जाता है।

श्री गणेश मुनिजी के जीवन का संक्षिप्त परिचय देते हुए और उनके व्यक्तित्व की अभ्यर्थना करते हुए मुझे 'महाकवि दिनकर' के महाकाव्य 'कुरुक्षेत्र' की अधोलिखित पंक्तियाँ बरबस याद आती हैं—

यजन, अर्पण, आत्मसुख का त्याग,
श्रेय मानव का, तपस्या की दहकती आग।
बुद्धि मन्थन से विनिर्गत श्रेय वह नवनीत—
जो करे नर के हृदय को स्निग्ध, सौम्य, पुनीत।

इन पंक्तियों में ही मुनिजी के जीवन के महान संकल्प और उनके व्यक्तित्व की गरिमा का वास्तविक रहस्य छिपा हुआ है।



अध्याय ३

चिन्तन का प्रवेशद्वार : अहिंसा

अहिंसा मानवीय व्यवस्थित जीवनपद्धति का एक आलोकपूर्ण पथ है। जैन धर्म एवं दर्शन के अन्तर्गत अहिंसा को सर्वोपरि सत्ता प्रतिष्ठित है—'अहिंसा परमोधर्मः' का जयघोष करने वाली श्रमण-संस्कृति इसी को जीवन का सबसे बड़ा तप मानती है। स्वामी समंतभद्र ने एक स्थान पर अहिंसा की सार्वभौमिक महत्ता का प्रतिपादन करते हुए लिखा है—"अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्।" जैन-दर्शन के लिए अहिंसा प्राणभूत तत्व है, शेष समस्त व्रत अहिंसा की सुरक्षा के लिए हैं—अवसेसा तस्स रखट्ठा! महामानव भगवान महावीर ने अहिंसा को परिभाषित करते हुए बतलाया है—'अहिंसा निउणा दिठ्ठा सव्वभूएसु संजमो'—अर्थात् प्राणिमात्र के प्रति संयम रखना ही अहिंसा है। इस युग के सुप्रसिद्ध कर्मयोगी महात्मा गांधी का सुपरिचित भजन—"वैष्णव जन तो तेने कहिए जे पीर पराई जाणे रे"—अहिंसा के मूल-मंत्र से ही परिचालित था।

तपस्या और वैराग्य को जीवन-यात्रा का सबल पाथेय मानकर चलाने वाले श्री गणेश मुनिजी ने भी अहिंसा जैसे गूढ़ और जटिल दार्शनिक विषय का विवेचन अपनी सुबोध शैली में बड़ी मार्मिकता से प्रस्तुत किया है। 'आधुनिक विज्ञान और अहिंसा' तथा 'अहिंसा की बोलती मीनारें' शीर्षक कृतियाँ उनके गम्भीर चिन्तन तथा अथक मनन का ही सुपरिणाम हैं। अहिंसा के सम्बन्ध में उनके तर्कसंगत और व्यावहारिक चिन्तन की परिणति इन रचनाओं का मूल वैशिष्ट्य है।

अहिंसा परिभाषा के मूल सूत्र—संसार के प्रत्येक धर्म और जीवन-दर्शन में अहिंसा की शक्ति को मुक्त-कंठ से स्वीकार किया गया है।

पृथ्वी पर आज तक जितने भी विचारक, धर्म-प्रवर्तक एवं जीवन के गूढ़ रहस्यों के व्याख्याता हुए हैं, उन सभी ने अहिंसा की अपने ढंग से व्याख्या की है। श्री गणेशमुनिजी ने अहिंसा के सम्बन्ध में बड़ी स्पष्टता से लिखा है कि—'अहिंसा' एक तीन वर्ण का छोटा-सा शब्द है, किन्तु यह विष्णु के तीन चरण से भी अधिक विराट व व्यापक है। मानवजाति ही नहीं, किन्तु समस्त चर-अचर प्राणिजगत इन तीन चरणों में समाया हुआ है। जहाँ अहिंसा है, वहाँ जीवन है, जहाँ अहिंसा का अभाव है, वहाँ जीवन का अभाव है। अहिंसा एक विराट् शक्ति है। जीवन के विविध पक्षों में इसके विविध प्रयोग मानव अनादिकाल से करता रहा है। जिन परिस्थितियों में जिस प्रकार के समाधान की आवश्यकता हुई—अहिंसा ने वह समाधान प्रस्तुत किया है।"[1]

इस प्रकार मुनिजी ने अहिंसा की असंख्य परिभाषाओं से विचार-मंथन करके निष्कर्ष नवनीत हमारे सामने रख दिया है। उन्होंने बड़ी सहजता से अहिंसा के मूलभूत स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए लिखा है—"धर्म ने मानवजाति को अनेकानेक महान विभूतियाँ प्रदान की हैं, पर उन सबमें अहिंसा ही उत्कृष्ट है। मानव जीवन में देवत्व और मानवत्व की प्रतिष्ठा करने वाली एकमात्र अहिंसा ही है। यदि मानव में अहिंसात्मक सुमधुर कोमल कमनीय विचारों के विचिमाली का उदय न हुआ, तो मानव किस नगण्यतम स्थिति की अँधेरी गुहा में चला जावेगा, जिसकी कल्पना सहज नहीं की जा सकती। मानव ने परिवार, समाज और राष्ट्र का निर्माण किया तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित किये, इन सबका मूलाधार अहिंसा ही है। व्यक्ति और समाज की जीवन-यात्रा का पाथेय भी अहिंसा ही है। अहिंसा के प्राण ही उसमें स्पंदित दिखलाई पड़ते हैं। प्राण के अभाव में व्यक्ति के शरीर की कोई कीमत नहीं होती, उसी प्रकार अहिंसा के अभाव में देश, समाज और राष्ट्र का भी कोई मूल्य नहीं है।" ····अहिंसा मानवता की आधारशिला है और मानवता का उज्ज्वल प्रतीक है। परिवार, समाज, देश और राष्ट्र में यदि शान्ति के संदर्शन हो सकते

---

१. अहिंसा की बोलती मीनारें, पृ० १४

हैं तो वह एकमात्र अहिंसा से ही। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि अहिंसा विश्व की आत्मा है, प्राण है, और है चेतना का एक स्पंदन।[1]"

इस तरह से हम देखते हैं कि मुनिश्री की दृष्टि में सम्पूर्ण चिन्तन-धाराओं का समाहार उपस्थित है। वे अतिवादी दृष्टिकोण के कहीं भी समर्थक नहीं प्रतीत होते। जहाँ कहीं भी उन्हें ज्ञान की संचित राशि प्राप्त हो जाती है, उसका वे समुचित ढंग से उपयोग कर लेने में संकोच नहीं करते। जैन, बौद्ध, वैदिक, आधुनिक जीवन दर्शन के समस्त पक्षों का सम्यक् अध्ययन करते हुए अहिंसा के सम्बन्ध में सर्वथा निर्भ्रान्त दृष्टिकोण सामने रखना टेढ़ी खीर है, किन्तु मुनिजी की निर्मल दृष्टि के लिए यह असम्भव कार्य नहीं है। उन्होंने कई स्थानों पर अहिंसा के सम्बन्ध में सुन्दर मन्तव्य प्रस्तुत किये हैं। मुख्यरूप से वे अहिंसा को एक जीवनशक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं और उसके द्वारा विश्व की अनेक समस्याओं का समाधान पाने की सुन्दर अभिलाषा रखते हैं।

अहिंसा का वास्तविक स्वरूप

अहिंसा भारतीय संस्कृति की आत्मा है। वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन की सर्वाङ्गीण उन्नति अहिंसा की सफल साधना पर ही आधारित है। अहिंसा तत्त्व द्वारा—आध्यात्मिक जीवन का ही विकास नहीं होता, अपितु मानव-जीवन का भौतिक क्षेत्र भी सम्पन्न और समृद्ध होता है। किन्तु अहिंसा के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के भ्रम फैलाये गये हैं और इन भ्रामक प्रचारों से जनमानस पर अंधकार की काली घटा छायी हुई है। मुनिजी इस भ्रान्ति की ओर संकेत करते हुए लिखते हैं—"कुछ लोगों की ऐसी धारणा बन गई है कि अहिंसा केवल धार्मिक क्षेत्र की ही वस्तु है, मगर यह बड़ी भ्रान्ति है। अहिंसा का क्षेत्र बहुत व्यापक है। मानव-जीवन के जितने भी क्षेत्र हैं, सभी अहिंसा की क्रीड़ा-भूमि हैं। धर्म, राजनीति, समाज, अर्थनीति, व्यापार, अध्यात्म, शिक्षा, स्वास्थ्य और विज्ञान आदि सभी क्षेत्रों में अहिंसा का अप्रतिहत प्रवेश है।

---

१ आधुनिक विज्ञान और अहिंसा, पृ० १४५, १४६

उसके लिए न कोई स्थान की सीमा है और न वह परिधि में आवद्ध है।"[1] जैनागमों ने अहिंसा को 'भगवती' की संज्ञा से सम्मानित किया है। इस भगवती की दाहिनी भुजा दया है। दया के अभाव में अहिंसा का परिपालन पर्याप्त कठिन है। सुप्रसिद्ध चिन्तक इंगरसोल ने दया की शक्ति को स्वीकार करते हुए कहा है—"जव दया का देवदूत दिल से दुत्कार दिया जाता है और आँसुओं का फव्वारा सूख जाता है, तव मनुष्य रेगिस्तान की रेत में रेंगते हुए साँप-सा वन जाता है।"

आधुनिक जीवन के रेगिस्तान में दग्धहृदय मानव-समाज को अहिंसा के अमृत वारि की महती आवश्यकता है। मुनिजी के शब्दों में—"वस्तुत: अहिंसा एक महासरिता है, जव साधक के जीवन में यह इठलाती, वल खाती चलती है, तव साधक का जीवन विराट् व रमणीय बन जाता है।"[2] "........ जव साधक के जीवन में अहिंसा भाव की लहरें टकराती हैं, अन्त:करण में करुणा का अमृत वर्षण होता है और अपनी ही भाँति दूसरों को भी जीने का पूर्ण अधिकार प्रदान करता है, तव उसकी अहिंसा पूर्ण साकार हो जाती है। विश्व की समस्त आत्माओं को जीने का समानाधिकार है। कोई किसी के प्राणों का घात-प्रतिघात न करे। एक दूसरे के सुख-सुविधा में वाधक न बने, यही उन अनन्त ज्ञानियों की साधना का अर्थ है, निचोड़ है।"

अहिंसा को कुछ लोगों ने सर्वथा अव्यावहारिक रूप देने की कोशिश की है और वे अहिंसा को निष्क्रियता का जामा पहना देना चाहते हैं। लेकिन गणेशमुनिजी इस मान्यता का स्पष्ट शब्दों में प्रतिकार करते हैं। वे लिखते हैं—'जैनदर्शन व जैनधर्म का आदर्श यहीं तक सीमित नहीं है, वरन् उसका आदर्श है—दूसरों के जीने में मदद करो और अवसर आने पर दूसरों के जीवन की रक्षा के लिए अपने जीवन की आहुति भी दे डालो। प्रस्तुत आदर्श की परिपालना सम्यक प्रकार से न होने के कारण अहिंसा निष्क्रिय वनी हुई है। 'जीओ और जीने दो' से वढ़कर 'दूसरों के जीवन में

---

१. आधुनिक विज्ञान और अहिंसा, पृ० १६०

२. अहिंसा की बोलती मीनारें, पृ० १६

सहायक वनो' इस विराट् सिद्धान्त को आत्मसात् करने के लिए अहिंसा को सक्रिय रूप प्रदान करने की आवश्यकता है। अहिंसा के विचारकों को केवल यहीं तक सोचकर विराम नहीं लेना चाहिए कि प्राणिमात्र को जीने का अधिकार है, उन्हें जीने दो। किन्तु इस वात को सोचना है कि हम दूसरों के जीने में किस तरह सहयोगी वन सकते हैं ? व्यक्ति, समाज, देश और राष्ट्र के अभ्युदय एवं उत्कर्ष में हमारा क्या उपयोग हो सकता है— अहिंसा की इस भावना का विकास ही सर्वोदय की भावना है, यही अहिंसा का विधायक पक्ष है।"[१]

गाँधीजी ने अहिंसा को राष्ट्रीय जीवन के व्यापक सन्दर्भ में एक अचूक अस्त्र के रूप में प्रयुक्त किया। उनका यह प्रयोग इतना सफल रहा कि दुनिया ने दाँतों तले उँगली दवा ली। देश के प्रबुद्ध जन-मानस को प्रेरणा देते हुए गाँधी के इस विशाल प्रयत्न को श्री मुनिजी ने नये ढंग से व्याख्यायित किया है। वे यह स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं हैं कि अहिंसा कायरता का प्रतीक है अथवा वह कर्मक्षेत्र से भागने के लिए एक वहाना-मात्र है। मुनिजी वड़ी स्पष्टता से इस वात का विरोध करते हुए यह प्रतिपादित करते हैं कि अहिंसा वीरों का धर्म है—"अहिंसा कायरता नहीं सिखलाती, वह तो वीरता सिखलाती है! प्राणों का मोह करके जिन्दगी से चिपटकर कायर मत वनो। यदि समय पर अन्याय-अत्याचारों का प्रतिकार न कर सके, तो यह सवसे वड़ी तुम्हारी बुजदिली व कायरता ही सिद्ध होगी और तुम्हारी अहिंसा, तुम्हारी शान्ति की पुकार सिर्फ एक वंचना और धोखा मानी जायेगी। अहिंसा यह कभी नहीं कहती कि मानव अन्यायों को सहन करे। क्योंकि जैसे अन्याय करना स्वयं में पाप है, वैसे ही अन्याय को कायर होकर सहन करना महापाप है। वह अहिंसा क्या है, जिसमें अन्याय के प्रतिकार की शक्ति नहीं, देश की आजादी को सुरक्षित रखने की क्षमता नहीं। वह 'अहिंसा' अहिंसा नहीं, वह नाममात्र की अहिंसा है, निष्प्राण अहिंसा है। ऐसी अहिंसा का कोई मूल्य नहीं है।"[२]

---

१. अहिंसा की वोलती मीनारें, पृ० २०-२१
२. अहिंसा की वोलती मीनारें, पृ० २३-२४

अहिंसा का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। जो लोग अहिंसा को एक कठघरे में बन्द करके उस पर अध्यात्म का ट्रेडमार्क लगा देना चाहते हैं, उनसे मुनिजी का चिन्तन सहमत नहीं है। जैनदर्शन ने जिस अहिंसा को सर्वोपरि महत्ता दी, वह अहिंसा केवल आदर्शवादी और अव्यावहारिक अहिंसा नहीं है, बल्कि जीवन के समस्त क्षेत्रों में संयम के साथ गतिशील होने का नाम ही अहिंसा है। इस सन्दर्भ में मुनिश्री का यह कथन ध्यान देने योग्य है— "अहिंसा तो विश्व का एक सर्वव्यापी सिद्धान्त है। वह जितना आध्यात्मिक क्षेत्र में सक्रिय है, उतना ही सामाजिक व राजनीतिक क्षेत्र में प्रभावशाली है। इसको व्यक्तिगत और सामाजिक व राजकीय प्रश्नों के लिए अनुपयोगी बताना अपनी अज्ञता सिद्ध करना है। मानवीय जीवन के जितने भी क्षेत्र व विषय हैं, उन सबमें अहिंसा का अप्रतिहत प्रवेश है। धर्म, राजनीति, अर्थ, समाज, व्यापार, अध्यात्म, शिक्षा और विज्ञान आदि सभी क्षेत्रों में अहिंसा का अखण्ड प्रभुत्व है। सभी क्षेत्र अहिंसा की क्रीड़ा-भूमि हैं।"[1]

अहिंसा का उद्देश्य

जैनदर्शन ने अपने चिन्तन के द्वारा विश्व को एक महान दृष्टि प्रदान की। अहिंसा के राजपथ पर अग्रसर होने के लिए जैन संस्कृति और दर्शन ने समस्त मानव जाति को उद्बुद्ध और प्रेरित किया है। जैन-संस्कृति और जैनदर्शन का मूलाधार और प्राणशक्ति अहिंसा है। श्री गणेशमुनिजी इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—"अहिंसा मानवीय व्यवस्थित जीवनपद्धति का आलोकपूर्ण पथ है। सर्वांगीण जीवन के सहअस्तित्व के आधार पर किये जाने वाले विकास को आलोकित करती है। मानव में ऋजुता उत्पन्न कर समत्व की साधना की ओर संकेत कर प्राणिमात्र का सर्वोदय ही इसका लक्ष्य है।"[2]

लेकिन अहिंसा के द्वारा समत्वयोग की साधना का तात्पर्य क्या है? समत्वयोग की साधना पर जैनदर्शन के वरिष्ठ आचार्यों ने सर्वाधिक बल दिया है। मुनिजी का भी अभिमत है कि—"अहिंसा का मूलाधार समत्वयोग है। समत्वयोग आत्मसाम्य की दृष्टि प्रदान करता है,

---

१. अहिंसा की बोलती मीनारें, पृ० २६

२. आधुनिक विज्ञान और अहिंसा, अपनी बात

जिसका अर्थ है विश्व की सभी आत्माओं को समदृष्टि से देखना। चैतन्य मात्र के प्रति अपनेपराये का भेद न रखकर सबके साथ समता-मूलक व्यवहार करना—समत्वयोग की सबसे बड़ी साधना है।'[1] गीता में भगवान कृष्ण ने परम योगी की विशेषतायें बतलाते हुए कहा है कि "जो सभी जीवों को अपने समान समझता है और उनके सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझता है, वही परम योगी है"[2] आधुनिक जैन विचारक मुनि श्री कांतिसागर ने भी जीवन में अहिंसा को सर्वोपरि महत्त्व देते हुए यह कहा है—"जीवन में अहिंसा की प्रतिष्ठा के लिए तत्वज्ञ मनीषियों ने अपरिग्रहवाद की ओर संकेत दिया है। अनावश्यक और अनुचित संचय ही संघर्ष और हिंसा को प्रोत्साहन देते हैं। आज अधिक उत्पादन की ओर संसार जुटा है। दिनानुदिन आवश्यकताएँ इतनी बढ़ी जा रही हैं कि उनकी पूर्ति में ही जीवन समाप्त हो जाता है। उपभोग के लिए अवकाश नहीं मिलता। जबकि व्यक्ति-स्वातंत्र्यमूलक और जनतांत्रिक परम्परा का अनुगमन करने वाली श्रमणों की साधना में यह संकेत दिया है कि यदि समाज और राष्ट्र में शान्ति और सन्तुलन की स्थापना करनी है, तो व्यक्ति को ही सर्वप्रथम अपना आभ्यन्तरिक विकास करते हुए जीवन की आवश्यकताओं को कम करना होगा, ताकि अनावश्यक स्वार्थ-लिप्सा और वासना-विवर्धक तत्त्वों को पनपने का अवसर ही न मिले। जीवन एक ऐसी वस्तु है कि उसे किसी भी साँचे में ढाला जा सकता है। अपरिग्रहवाद जनतन्त्र की बहुत बड़ी शक्ति है। सरल जीवन और उच्च आदर्श ही अहिंसा और अपरिग्रह का पोषण कर सकते हैं।"[3]

लेकिन यह प्रश्न उठकर खड़ा होता है कि अहिंसा के स्वतन्त्र मानदंड क्या है? अर्थात् अहिंसा की साधना किस आधार पर की जा सकती है? इस प्रश्न पर गणेशमुनिजी ने बड़ी व्यापक दृष्टि से विचार किया है। अपनी दो स्वतंत्र कृतियों में तो उन्होंने अहिंसा के विभिन्न

---

१. अहिंसा की बोलती मीनारें, पृ० १७
२. गीता, अध्याय ६, श्लोक ३२
३. आधुनिक विज्ञान और अहिंसा, चार शब्द

पक्षों को उद्घाटित करते हुए उससे संबद्ध अनेक प्रश्नों पर संतुलित विचार किया है। वे लिखते हैं कि—"करुणा, अनेकान्त, अपरिग्रह, शोषणमुक्ति, सहअस्तित्व, निःशस्त्रीकरण, शाकाहार एवं विश्वशान्ति—ये सब अहिंसा की स्वतन्त्र मीनारें हैं, जिनकी असीम ऊँचाई पर भारत का चिंतन सदा से ऊर्ध्वमुखी रहा है। आज भी इन मीनारों के कण-कण से एक पुकार ध्वनित हो रही है और जीवन के कोलाहल में बहरे होकर चलते हुए इन्सान को आगाह कर रही है, दिशा-दर्शन कर रही है। आवश्यकता है वह शान्तिपूर्वक इन मीनारों से अभिव्यक्त होने वाली ध्वनियों को सुने, उनकी भाषा को समझे, चिन्तन करे और जीवन और जगत की समस्याओं को सुलझाने में सम्पूर्ण मनोवल के साथ जुट जाये।"[1]

अहिंसा का सिद्धान्त इतना व्यापक और विशाल है कि इसकी परिधि के अन्तर्गत समस्त धर्म और दर्शन समवेत हो सकते हैं। प्रायः विश्व के सभी दर्शनों और धर्मों में अहिंसा की महत्ता को एक स्वर से स्वीकार किया है। आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव से लेकर आधुनिक विचारकों तक ने अहिंसा की महानता को अलग-अलग ढंग से स्पष्ट किया है। बौद्धधर्म, वैदिकधर्म, इस्लाम और ईसाई धर्म तथा इसी प्रकार अन्य धर्मों में भी आध्यात्मिक जीवन-निर्माण के लिए अहिंसा तत्त्व को सर्वाधिक समर्थन प्रदान किया गया है। किसी की व्याख्या अथवा शब्दावली में थोड़ा-बहुत अन्तर हो सकता है, किन्तु यह सभी मानते हैं कि अहिंसा के द्वारा ही जीवन को सुख और शान्ति प्राप्त हो सकती है।

अहिंसा और विज्ञान

आधुनिक युग अपने सत्य को विज्ञान के रूप में प्रकट कर रहा है। विज्ञान ही आज का सबसे प्रधान धर्म और कर्म निरूपित हो चुका है। जीवन का कोई भी क्षेत्र विज्ञान के प्रकाश अथवा उसके अन्धकार से अछूता नहीं है। मनुष्य की जीवनचर्या इतनी वैज्ञानिक होती जा रही है कि उसे दो क्षण के लिए भी अवकाश पाना असम्भव होता जा रहा है।

---

१. अहिंसा की बोलती मीनारें,

आज का साहित्य, कला, चिन्तन, विचारधारा सभी विज्ञान के अच्छे या बुरे प्रभाव से ओत-प्रोत हैं। जिन वस्तुओं के प्रति मनुष्य के मन में आश्चर्य और विस्मय के भाव थे, अथवा अज्ञानतावश जिन समस्याओं का मनुष्य अब तक समाधान ढूंढ़ रहा था, वे सारी समस्यायें, विज्ञान की ज्योति से नया अर्थ पा गई। मनुष्य का वैयक्तिक और सामाजिक जीवन, उसके आपसी सम्बन्ध तथा उसकी सामान्य जीवन क्रियाओं में विज्ञान ने बहुत बड़ा अन्तर ला दिया है। एक तरफ तो विज्ञान अपनी सृजनात्मक क्षमता का परिचय देता हुआ आधुनिक मानव को नये लक्ष्यों की ओर अग्रसर करता जा रहा है, लेकिन दूसरी तरफ उसको संहारक और विनाशकारी शक्तियों ने मानवजाति के अस्तित्व को ही खतरे में डाल दिया है। विज्ञान के द्वारा मनुष्य की सृजनात्मक क्षमता का विकास भले ही कम हुआ हो, किन्तु उसको विध्वंसात्मक शक्तियों का अभूतपूर्व विकास हुआ है। आज के युग का शायद ही कोई विचारक, चिन्तक अथवा मनीषी हो, जिसने विज्ञान के इन उभय पक्षों पर अपनी खुलकर प्रतिक्रिया न व्यक्त की हो। कुछ दिन पूर्व बच्चों की एक पाठ्यपुस्तक में 'हम विज्ञानलोक के वासी' शीर्षक एक भावपूर्ण रचना पढ़ी थी, जिसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

हम विज्ञान-लोक के वासी।
हमें मिटानी है धरती से,
भूख-प्यास, दुख, दर्द, उदासी॥
ले जायेंगे यंत्र-तंत्र सब गीत गाँव को,
एक करेंगे बुद्धिभाव को, धूप-छाँव को।
धरा उठाने, अभ्र झुकाने को आये हैं,
भूल-भालकर धर्म-कर्म के भेदभाव को।
हमें जुटानी है धरती पर,
नहर-बाँध की काबा-काशी।

काश ! विज्ञान के प्रति हमारे मन की प्रतिक्रिया निरन्तर ऐसी ही बनी रहती। लेकिन जब हम विश्व-क्षितिज पर अपनी सतर्क दृष्टि

डालकर देखते हैं और हमें स्थान-स्थान पर युद्ध की विभीषिका के काले बादल मँडराते दिखाई पड़ते हैं, तो हमें श्री गणेशमुनिजी का यह कथन स्मरण हो आता है—"प्रत्येक वस्तु का औचित्य-अनौचित्य वस्तुपरक न होकर व्यक्तिपरक होता है, अर्थात् दृष्टिकोण पर अवलंबित है। साधक-बाधक तत्त्व भी व्यक्ति की दृष्टि पर निर्भर है। विज्ञान भी इस दृष्टि से मानव को समुन्नति के शिखर पर पहुँचा कर सुख, शान्ति, समृद्धि, सहिष्णुता और सहअस्तित्व की ओर उत्प्रेरित करता है तो वह मानवता के लिए वरदान की परम्परा स्थापित कर सकेगा। यदि उत्पीड़न में उसका उपयोग किया गया, तो इसके परिणामों के भुगतने या सोचने के लिए भी मानव-मस्तिष्क रहेगा या नहीं—यह प्रश्न है!"[1]

यहाँ यह प्रश्न उठकर खड़ा होता है कि विज्ञान की क्या कोई सर्वमान्य रूपरेखा अथवा परिभाषा हो सकती है? वस्तुतः परिभाषा भी कोई जड़ वस्तु न होकर गतिशील रूपरेखा ही है। विज्ञान की व्याख्या विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न अवसरों पर प्रस्तुत की है, किन्तु अब तक कोई ऐसा सार्वभौमिक कथन इस सम्बन्ध में नहीं बन पाया है जो सबको स्वीकार्य हो। आचार्य हेमचन्द्रसूरि जैसे प्राचीन विद्वानों से लेकर बर्टेण्ड रसेल जैसे आधुनिक चिन्तकों ने विज्ञान की विभिन्न प्रकार से व्याख्या की है, लेकिन यह तो अधिकांश विचारक मानते हैं कि विज्ञान मनुष्य की अन्वेषक वृत्ति का ही परिणाम है। शास्त्रीजी के शब्दों में—"जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य को प्रत्यक्ष कार्य करते हुए नैपुण्य प्राप्त हो, वही विज्ञान है।" सत्यान्वेषण की बड़ी प्रयोगशाला में मनुष्य ने अपने विशिष्ट ज्ञान से जो भी प्राप्त किया है, वह सब कुछ विज्ञान की परिधि में रखा जा सकता है। मानव-मस्तिष्क की अदम्य जिज्ञासावृत्ति ने ही विज्ञान की सृष्टि की। विज्ञान मानवी चेतना का ही एक विशिष्ट रूप है।

आज की वैज्ञानिक उपलब्धियों को ध्यान में रखकर यह कहा जा सकता है कि विज्ञान को यदि मानव समाज की सेवा में लगना है तो उसके

---

१. आधुनिक विज्ञान और अहिंसा, अपनी बात

लिए अहिंसा का पथ ही सबसे उपयुक्त प्रतीत होता है। अहिंसाहीन विज्ञान मानवजाति को बड़े भयंकर परिणामों की ओर ले जा रहा है। आज की अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ भी विज्ञान की विनाशलीला से और भी जटिल होती जा रही हैं। जब हम वियतनाम, कोरिया अथवा अरब-इजराइल संघर्ष को ध्यान में लाते हैं, तो विज्ञान की बड़ी भयावह प्रतिक्रिया हमारे मस्तिष्क पर होती है। विज्ञान ने अपने चमत्कारों से मानवजाति की अपरिमित सेवा भी की है, किन्तु इस विज्ञान को तभी नियन्त्रित रखा जा सकता है, जब उस पर अहिंसा का अंकुश रखा जावे। मुनिजी का यह कथन बड़ा ही वास्तविकता पूर्ण है कि—"विज्ञान मानव जाति के लिए एक वरदान है। वह अभिशाप तब प्रमाणित होता है, जब वह सृजन का पक्ष छोड़कर विध्वंस की ओर गतिमान होता है। वह शान्ति का संदेश दे और वैषम्य में साम्य स्थापित कर सके, तभी हमारे लिए वह वरदान है। आइन्स्टाइन ने ठीक ही कहा है कि विज्ञान विध्वंस के लिए नहीं है। जो राज्य विज्ञान का दुरुपयोग करता है और उसका उपयोग दूसरों को डराने या अन्य पर प्रभाव जमाने के लिए करता है, वह न केवल विज्ञान का, अपितु वैज्ञानिकों की आत्मा का शोषण करता है।"[1]

किसी भी वस्तु के सकारात्मक और नकारात्मक—दो पक्ष होते हैं। हमें उस वस्तु के सकारात्मक पक्षों पर विशेष जोर देना चाहिये। विज्ञान का एक पहलू मानवमात्र के कल्याण की भावना से पूरित है, लेकिन उसका दूसरा पहलू वह है, जिसमें भय, हिंसा आदि की विषाक्त एवं दुर्दान्त भावना का सन्निवेश है। मुनिजी ने इसी तथ्य को ध्यान में रखकर यह चेतावनी दी है—"वह विज्ञान दानव अपने प्रत्येक श्वास, प्रश्वास में समूचे विश्व को निगलने के लिए लालायित है। वह एक-से-एक भयंकर एवं प्रलयंकारी संहारक अस्त्रों की झंकारों के स्वर छेड़ रहा है। विश्व के रंगमंच पर अपना नग्न ताण्डव करने को समुद्यत है। अतः प्रत्येक विचारक के सम्मुख यह प्रश्न समुपस्थित होता है कि विज्ञान मानवजाति की असीम उन्नति एवं कल्याण का अबाध स्रोत है—या विनाश का कारण है? आज

१. आधुनिक विज्ञान और अहिंसा, पृ० ५८

देश के मूर्धन्य मनीषियों को उक्त प्रश्न पर तटस्थ नीति से सोचना है।"[1] ऐसी भयंकर परिस्थिति में भारतवर्ष पर एक नई जिम्मेदारी आ गई है। आज सारा संसार पंचशील के साधक भारतवर्ष को ओर आशा भरी दृष्टि से देख रहा है। शान्ति और अहिंसा को जीवन का सबसे बड़ा मूल्य मानकर भारतीय दर्शन और चिन्तन ने विश्व को कई बार जीवनदान दिया है, इसलिए हमारी यह नैतिक जिम्मेदारी है कि आज हम पुनः साहस के साथ वैज्ञानिक कुप्रवृत्तियों का विरोध करें और विश्व-शान्ति का राजपथ प्रशस्त करें। श्री गणेशमुनिजी ने भारतीय जनता को इस महान शक्ति को सम्बोधित करते हुए लिखा है—"आज वैज्ञानिकों के भौतिक विज्ञान रूपी समुद्र-मंथन से अणुबम, उद्जनबम और प्रक्षेपणास्त्र आदि आणविक विष निकले हैं, परन्तु शिव के समान ऐसा कौन व्यक्ति या राष्ट्र आज तैयार है जो इसे समुचित रूप से पचा ले ? हाँ, भारत में इस विषपान की शक्ति अवश्य विद्यमान है, जिसने समत्व की साधना और परदुःख-कातरता व अखण्ड लोककल्याणकारी भावनाओं का जीवन में सदैव साक्षात्कार किया है। समत्व का आधार ही यहाँ की संस्कृति की मूल प्रेरणा रही है। भारत ने ही पर-दुःख को स्व-दुःख रूप से अंगीकार किया है। भारत ने विश्व के विभिन्न विचारवाले राष्ट्रों के सम्मुख शान्ति स्थापनार्थ पंचशील जैसे जनकामी सिद्धान्त का सक्रिय सूत्रपात किया है। अहिंसा को न केवल भारत ने अपना अमृत ही माना है, अपितु इसी के आधार पर स्वराज्य प्राप्त कर विश्व को दिखला दिया कि भयंकर वैषम्य में भी अहिंसारूपी अमृत साम्य स्थापित कर, कैसी भी पेचीदगी को सरलता से सुलझा सकता है।"[2]

इसलिए मुनिजी को यह विश्वास है कि यदि विज्ञान पर अहिंसा का वरदहस्त रहा, तो विज्ञान मानवजाति को ध्वंस के बदले स्वर्ग का एक अभिनव द्वार खोल देगा। आज के वैज्ञानिक युग में अहिंसा की जितनी

---

१. आधुनिक विज्ञान और अहिंसा, पृ० ७४
२. आधुनिक विज्ञान और अहिंसा, पृ० ८३-८४

महती आवश्यकता बनी हुई है, उतनी किसी भी युग में शायद ही रही हो। प्रथम महायुद्ध की विभीषिका और द्वितीय विश्वयुद्ध की भीषण ज्वाला ने मानवजाति का सर्वनाश करने में कोई कसर नहीं उठा रखी थी। आज भी मानवसमाज अणु-अस्त्रों की भयानकता से आक्रान्त है। अत: हिंसात्मक उपायों से विश्व-सुरक्षा के स्वप्न देखना रेगिस्तान में जल की खोज करना है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा परिषद् ने अनेक बार बड़े राष्ट्रों में निरस्त्रीकरण की आवाज बड़े जोरशोर से भले ही उठाई हो, लेकिन आज भी आणविक आयुधों का परीक्षण हो रहा है, विस्फोट हो रहा है और विश्वशान्ति के प्रति उपेक्षा बरती जा रही है। आध्यात्मिक अनुभूतियों के ऊपर भौतिकता की इतनी गहरी चोट पड़ रही है कि आज संस्कृति और सभ्यता के प्रश्न उपेक्षित होते जा रहे हैं। महाराजश्री का यह कथन ध्यान देने योग्य है—"विकास की चरम स्थिति पर पहुँचा हुआ विश्व आज अनुभव करता है कि जब तक आध्यात्मिक दृष्टि का जीवन में विकास न होगा, तब तक केवल विज्ञान के बल पर ही मानवता की रक्षा नहीं की जा सकती। मनुष्य विज्ञान का दास बना हुआ है। आध्यात्मिक शक्ति के बीज स्वरूप अहिंसा से वह बहुत दूर चला गया है, तभी तो विज्ञान वरदान के स्थान पर अभिशाप प्रमाणित हो रहा है। वस्तुत: भौतिक शक्तियों पर विजय प्राप्त करना कोई बड़ी बात नहीं है। मानव की मानवता तो इसी में है कि वह अपनी इच्छाशक्तियों पर अधिकार प्राप्त करे।"[1]

अत: मूल प्रश्न विज्ञान की उपलब्धियों के समुचित प्रयोग का है। विज्ञान का समुचित उपयोग तभी हो सकता है, जब मनुष्य की आसुरी प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण हो। जिस अणुबम के द्वारा नरसंहार का भयानक दृश्य प्रस्तुत किया जा सकता है, उसी अणुशक्ति के द्वारा यन्त्र और उद्योगों का सफलता से संचालन हो सकता है। आज विभिन्न देशों में आणविक भट्टियों के द्वारा इतनी ऊर्जा पैदा की जा रही है, जिसके द्वारा अनेक मानवीय समस्याओं का समाधान ढूंढ़ा जा सकता है। अहिंसा के

१. आधुनिक विज्ञान और अहिंसा, पृ० १२७

द्वारा हम वैज्ञानिक क्षेत्रों में अभिनव क्रान्ति कर सकते हैं। यदि हम विनाशशील दृष्टि के स्थान पर विकासशील दृष्टि से प्रेरित हों, और सर्व-जनहित ही हमारा आदर्श हो, तो विज्ञान से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है।

अहिंसा का दर्शन मानव-आत्मा का दर्शन है। इसके द्वारा मानव-जीवन के आन्तरिक मूल्यों को अधिक समुन्नत किया जा सकता है। विज्ञान ने मानवजाति को भौतिक सुख-सुविधायें तो बहुत दी हैं, किन्तु उसने मनुष्य के दिल और दिमाग का सन्तुलन समाप्त कर दिया है। उसके हृदय के राज-पथ को संकीर्ण बना दिया है और मानव की आत्मिक शांति को छीन लिया है। आज विश्व के समक्ष अनेक समस्याएँ मुँह बाये खड़ी हैं और अणु-अस्त्रों तथा प्रक्षेप्यास्त्रों द्वारा मानव इतना भयभीत हो गया है कि उसकी आँखों से सुख की नींद उड़ गई है। यह स्थिति बहुत दयनीय है। एक तरफ तो "आज मानव के कान विज्ञान की सहायता से इतने लम्बे हो गये हैं कि हजारों मील दूर की बात सुन लेते हैं, उसकी जबान इतनी लम्बी हो गई है कि हजारों मील लम्बी दूर तक बेतार के तार, रेडियो, टेलीफोन या टेलीविजन द्वारा अपनी आवाज पहुँचा देता है। उसका मस्तिष्क इतना विराट् बन गया है कि मशीनों की सहायता से हजारों पोथे अपने दिमाग में भर सकता है। उसके पैर इतने लम्बे हो गये हैं कि अब वह विज्ञान के सहारे चन्द्र व मंगल लोक तक की यात्रा करने और पाताललोक तक को छान डालने के अभियान कर रहा है।" दूसरी तरफ मानवसंहार का भीषण खतरा भी दरवाजे खटखटा रहा है। मनुष्य के नैतिक मूल्यों में निरन्तर ह्रास होता जा रहा है। स्वार्थ, ईर्ष्या, प्रति-शोध की जलन में मानव-समाज इतनी बुरी तरह से जल रहा है किसी भी क्षण विस्फोटक स्थिति आ सकती है। अतः जब तक विज्ञान का साहचर्य अहिंसा से नहीं होगा, तब तक सुख और शान्ति के स्वप्न यथार्थ में परि-वर्तित नहीं हो सकते। महाराजश्री के चिन्तन की यह मूल समस्या है कि आधुनिक मानव को वास्तविक शान्ति का अनुभव कैसे कराया जाय। इसके लिए उन्होंने सारांश रूप में यह विचार व्यक्त किया है कि—"विज्ञान

है और मनुष्य एक अजीव अंधकार में हाथ-पैर चला रहा है। इसके लिए निरन्तर सम्मेलन बुलाये जाते हैं, देश के वड़े-वड़े राजनीति-विशारद सद्भावना यात्राओं पर लम्वी राशि खर्च करते हैं, संयुक्त विज्ञप्तियों की मोटी-मोटी फाइलें मेजों की शोभा वढ़ाती हैं, लेकिन समस्या ज्यों-की-त्यों अपने स्थान पर वनी हुई है। सीटो, नाटो जैसी सामरिक सन्धियाँ सैनिक हस्तक्षेप का प्रमुख कारण वन जाती हैं और सवसे वड़ा नियति का व्यंग तो यह है कि विश्वशान्ति के नाम पर ही वड़ी-वड़ी आक्रामक योजनायें वनाई जाती हैं। पंचशील, निरस्त्रीकरण, आणविक अस्त्रों के सामूहिक वहिष्कार पर वड़ी-वड़ी चर्चायें वेकार साबित हो रही हैं। मानव-मन निरन्तर अशान्त होता जा रहा है, भीषण मानसिक व्याधियाँ उसे जकड़ती जा रही हैं। जापान में द्वितीय विश्व-युद्ध की विनाश-लीला अव भी अपना गम्भीर प्रभाव वहाँ के जनमानस पर छोड़े हुए है। यह स्थिति वड़ी ही संकटपूर्ण और शोचनीय है। महाराजश्री ने अपनी पुस्तक "आधुनिक विज्ञान और अहिंसा" में विश्व-शान्ति के हेतु दस सूत्रों की ओर संकेत किया है, जिनके पालन से स्थायी विश्व-शान्ति का आगमन सम्भव हो सकता है। ये दस सूत्र निम्नलिखित हैं—

(१) विश्व के सभी राष्ट्र मिलकर परस्पर आर्थिक व सांस्कृतिक सहयोग करें।

(२) संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा मान्य मानवीय अधिकारपत्र सभी राष्ट्र अपनावें।

(३) विश्व से रंगभेद और जाति-भेद समाप्त हो।

(४) प्रत्येक राष्ट्र अपनी स्थिति के अनुसार सामाजिक व राजनीतिक व्यवस्था के लिए स्वतन्त्र रहे।

(५) अणुशक्ति पर सामूहिक नियन्त्रण हो व आणविक आयुध परीक्षण सर्वथा वन्द किये जायँ।

(६) उपनिवेशवाद की समाप्ति हो।

(७) सभी राष्ट्रों को समानता का अधिकार प्राप्त हो।

(८) सैनिक गुटवन्दी समाप्त कर आक्रमण वन्द हो।

(९) पारस्परिक विवादों का निवटारा पंचायत या सहयोग के आधार पर हो।

(१०) पंचशील के सिद्धान्तों को सभी राष्ट्र स्वीकार करें एवं 'स्व' और 'पर' उत्कर्ष में संलग्न रहें।[1]

इन दस सूत्रों की आचार-संहिता वनाकर विश्व के राष्ट्र आपसी सद्‌भावना को प्रश्रय देकर विश्व-शान्ति की सुखद कल्पना कर सकते हैं। लेकिन इसके लिए आत्मसंयम और धैर्य की महती आवश्यकता है। आज जिस प्रकार-प्रभुता सम्पन्न राष्ट्रों में शक्ति की स्पर्धा चल रही है, अथवा नये-नये सैनिक अड्डे और उपनिवेश वनाने की होड़ मची हुई है, उसको देखते हुए विश्वशान्ति का मार्ग पर्याप्त निराशाजनक है। यह स्थिति कभी भी विस्फोटक वन सकती है और ऐसे भीषण अस्त्रों का प्रयोग हो सकता है कि जिनसे मानव-जाति का अस्तित्व ही संदेहास्पद हो सकेगा। राष्ट्र-संघ अथवा विश्वन्यायालय भी वड़े राष्ट्रों पर अंकुश रखने में असफल प्रतीत होने लगे हैं और युद्ध की उन्मादक नीतियों का सूत्र-संचालन कुछ वड़े देशों के हाथों में ही है। इस चुनौती का सामना करने के लिए योग्य नेतृत्व की जरूरत है और यह कार्य भारतवर्ष वड़ी खूवी से निभा सकता है। लेकिन विश्व राजनीति के क्षितिज पर भारतीय दृष्टिकोण को कहाँ तक मान्यता मिल सकेगी, यह प्रश्न भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। भारतवर्ष सदैव शान्ति और अहिंसा का पुजारी रहा है लेकिन आज वह विश्व की महान शक्ति नहीं वन पा रहा है, इसीलिए उसकी मान्यताओं और दृष्टि-कोणों को कभी-कभी उपेक्षापूर्ण ढंग से टाल दिया जाता है। "जिसकी लाठी उसकी भैंस" वाली कहावत आज विश्व में चरितार्थ हो रही है। यदि भारतवर्ष भी एक प्रभुतासम्पन्न राष्ट्र होता तथा आर्थिक विकास के नये कीर्तिमान स्थापित किये होता तो दुनिया उसकी वातों को गम्भीरता से लेती। लेकिन यह सव एक दुराशामात्र ही है।

अहिंसा के आदर्श तथा सिद्धान्त तभी फलीभूत हो सकते हैं जव विश्व में नैतिकता का सूर्योदय हो। नैतिकता के अभाव से ही अहिंसा को

---

१ पृ० १२६

जहाँ नवीनतम आविष्कारों के द्वारा प्रकृति के रहस्यों का समुद्‌घाटन करता है, तथा आणविक शक्तियों के परीक्षणों से अपना अनुभव बढ़ाता है, वहाँ अहिंसा उनके द्वारा होने वाले विनाशों को रोकने का सुप्रयास करती है। अतः उक्त दृष्टि से अहिंसा को विज्ञान की सहचरी बनाया जाय। विज्ञान की शक्ति को अहिंसा के निर्देश पर ही प्रयोग किया जाय। विज्ञान और अहिंसा का साहचर्य ही मनुष्यजाति के त्राण का एकमात्र मार्ग है।"[1]

अहिंसा और विश्वशान्ति

साधारणतः यह विश्वास किया जाता है कि संतों का जीवन विश्व-राजनीति तथा समसामयिक परिस्थितियों से सर्वथा तटस्थ होता है अथवा वे सांसारिक समस्याओं से उदासीन रहते हैं। यह बात एक सीमा तक सही भी है। लेकिन संत भले ही परमार्थिक प्राणी हो, उसका युगीन संदर्भों से एकदम कट जाना सहज सम्भव नहीं है। मध्ययुग में कबीर, तुलसी जैसे साधक सन्तों ने भले ही किसी जन-आन्दोलन का नेतृत्व न किया हो लेकिन उनकी रचनाओं में तत्कालीन परिस्थितियों की जीवन्त छाया दिखलाई पड़ती है। आधुनिक युग में भी अनेक ऐसे सन्त हुए हैं, जिन्होंने सन्तत्व के साथ-साथ समाजसुधारक का महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व निवाहा है।

श्री गणेशमुनि शास्त्री के जीवन का मुख्य ध्येय तो श्रमण-साधना ही है, किन्तु अपनी रचनाओं में उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं तथा युगीन मानवीय संकटों पर निर्भीकता से अपने विचार प्रगट किये हैं। जैनसमाज वृहत् मानवसमाज का अनिवार्य अंग है और इसलिए जैनसाधक मानव-समाज की समस्याओं से निर्लिप्त रह भी नहीं सकते। यह बात और है कि उन्होंने किसी सक्रिय राजनीतिक जीवन-दर्शन को स्वीकार नहीं किया है अथवा जन-आन्दोलन की सक्रिय भूमिका से अपने को अलग रखा है। लेकिन आधुनिक समस्याओं तथा मानवीय संकट से उनके चिन्तन को भी उत्तेजना प्राप्त हुई है।

---

१. अहिंसा की बोलती मीनारें, पृ० १६१, १६२

आज विश्वशान्ति का प्रश्न वहुत जटिल होता जा रहा है। अणु-अस्त्रों की भयंकर भरमार, सैनिक अड्डों की निरन्तर स्थापना, आपसी स्वार्थ और दलवन्दी, क्षुद्र राजनीतिक और आर्थिक स्वार्थ, समाज के एक सम्पन्न वर्ग का वहुसंख्यक समाज से अलगाव, नैतिक ह्रास तथा अमानवीय प्रवृत्तियों का विस्तार कुछ ऐसे कारण हैं, जिनके चलते विश्वशान्ति को निरन्तर चुनौती का सामना करना पड़ रहा है। मुनिजी ने इस संकटपूर्ण स्थिति का मूल्यांकन करते हुए लिखा है—"वर्तमान की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति काफी तनावपूर्ण तथा उलझी हुई है। विश्व के राजनीतिक क्षितिज पर नये-नये स्वतन्त्र राष्ट्र चमक रहे हैं, और साम्राज्यवादी शक्तियों का प्रभुत्व अस्त हो रहा है। किन्तु इसी का दूसरा पक्ष बहुत ही अंधकार-पूर्ण है और वह है राष्ट्रों में सामरिक शक्ति की प्रतिस्पर्धा। बड़े राष्ट्र छोटे राष्ट्रों को कोरिया, वियतनाम, इजराइल जैसे क्षेत्रों को अखाड़ा बनाकर अपनी शक्तिप्रदर्शन करके विश्व को आतंकित रखने का प्रयत्न कर रहे हैं। विश्व-शान्ति के लिए ये सब खतरे हैं। सूत के कच्चे धागे की तरह विश्व-शान्ति का धागा आज अधर में लटक रहा है, पता नहीं किन अविवेकी हाथों के एक झटके से टूट जाये और समूचा विश्व युद्ध की लपटों में झुलस पड़े।"[1]

विश्वशान्ति के लिए अहिंसात्मक उपाय ही एकमात्र निदान हैं। आज संसार के समक्ष यह प्रश्न वड़ी गम्भीरता के साथ उपस्थित हो गया है कि वैज्ञानिक अस्त्रों की भीषण ज्वाला से मानव-जाति की सुरक्षा किस प्रकार हो? संसार के वड़े-से-बड़े वुद्धिवादी, मनीषी, चिन्तक, कलाकार और राजनीतिज्ञ इस समस्या का समाधान ढूँढ़ने के लिए अथक प्रयास कर रहे हैं, फिर भी सर्वमान्य सिद्धान्त अथवा समाधान अव तक नहीं खोजा जा सका है। क्षण-क्षण पर संकट के गहरे वादल मँडराने लगते हैं, देशों की सीमाओं पर युद्ध की चिनगारी यदा-कदा फूट पड़ती है, आपसी सम्वन्धों में समझदारी के स्थान पर तनाव और गहरा होता चला जा रहा

---

१. अहिंसा की वोलती मीनारें, पृ० २०-२१

व्यावहारिक रूप देने में मानव सफल नहीं हो पा रहा है। आज सर्वत्र अनैतिकता का साम्राज्य स्थापित हो चुका है। हृदय की पवित्रता और संयम की कोई पूछताछ नहीं है। अर्थशास्त्र का एक प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि बुरे सिक्के अच्छे सिक्कों को बाजार से बाहर कर देते हैं। आज जीवन में भी यही सिद्धान्त चरितार्थ हो रहा है। उच्च मूल्यों का सर्वत्र अभाव है, जबकि भ्रष्ट और अनैतिक मूल्य सब जगह सम्मान पा रहे हैं। इसके मूल में नीति और सदाचार की अवमानना ही है। महाराजश्री ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की बुनियाद में भी अनैतिकता का प्रभाव देखते हुए कहा है—"अनैतिकता के फलस्वरूप दिनानुदिन अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण विषाक्त बनता जा रहा है। आज एक ओर संयुक्त राष्ट्रसंघ और सुरक्षा परिषद की सदस्यता स्वीकार की जाती है, दूसरी तरफ उनकी धारा के खिलाफ षड्यन्त्र रचे जाते हैं। एक ओर शान्ति-सम्मेलनों की धूम मचाई जाती है, दूसरी तरफ अणु-आयुधों के अंबार खड़े कर छिपे-छिपे युद्ध की तैयारियाँ की जाती हैं। एक ओर अणु-परीक्षणों की संधि पर हस्ताक्षर किये जाते हैं, दूसरी तरफ अभ्यास के बहाने अणु-परीक्षण की घुड़दौड़ चालू है।"[1] गाँधीजी नैतिकता को बहुत प्रश्रय देते थे। इसीलिए उन्होंने हिंसा का परित्याग कर अहिंसा को सत्ता-परिवर्तन का एक प्रबल माध्यम स्वीकार किया था। आज सामाजिक और वैयक्तिक जीवन अनैतिक होता जा रहा है, अतः विश्वकल्याण के लिए यह अपेक्षित है कि नैतिकता को ही सर्वोच्च मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित किया जाय और ईमानदारी तथा सचाई से अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण में सद्भाव कायम किया जाय।

आज विश्व-रंगमंच पर राजनीतिक तनाव इतना गहरा हो गया है कि जिसके कारण विश्वशान्ति खतरे में पड़ी हुई है। रूस, अमेरिका, फ्रांस, चीन, ब्रिटेन जैसे बड़े राष्ट्रों के बीच जो शीतयुद्ध चल रहा है, उसके फलस्वरूप सर्वत्र गहरा अंधविश्वास और भयंकर प्रतिस्पर्धा का तत्व देखने में आ रहा है। बड़े राष्ट्रों की कूटनीतिक चालों के सामने निष्पक्ष और शान्ति के इच्छुक राष्ट्र भी आतंकित हैं। जब तक इनका आपसी समझौता

---

१ अहिंसा की बोलती मीनारें, पृ० १९८-१९९

और भाईचारे का नाता विश्व-रंगमंच पर वास्तविक रूप नहीं ग्रहण कर लेगा, तब तक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में कटुता बनी ही रहेगी। श्री गणेश-मुनिजी ने विश्वशान्ति के हेतु श्रमण भगवान महावीर के तीन महान सिद्धान्त—अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्तवाद को एकमात्र सबल माध्यम के रूप में विवेचन किया है। उनकी दृष्टि में अहिंसा सहयोग—स्वअस्तित्व की भावना तथा सबको समान रूप में जीने का अधिकार प्रदान करेगी। अपरिग्रह आवश्यकता से अधिक संग्रह न करने तथा अधूरे सुख-सुविधा प्राप्त व्यक्तियों एवं राष्ट्रों की सहायता और उन्नति के लिए प्रवहमान स्रोत बनेगा। इसी प्रकार अनेकांत समन्वय की दृष्टि के साथ एक-दूसरे के विचारदर्शन को जाँचने-परखने का अवकाश देगा। इससे विभिन्न शासन पद्धतियों के कारण होने वाला संघर्ष दूर होगा।[1]

विश्वशान्ति की स्थापना में अध्यात्मवाद भी अपना विशिष्ट और सक्रिय योग प्रदान कर सकता है। अध्यात्मवाद को एक सक्रिय माध्यम के रूप में स्वीकार करना चाहिए। भौतिक शक्तियों का अधिकाधिक विकास जीवन में सुख-शान्ति नहीं ला सकता। उसके लिए तो त्याग, अहिंसा, नैतिकता जैसे आध्यात्मिक मूल्यों का प्रश्रय आवश्यक है। मुनिजी के शब्दों में—'अध्यात्मवाद आज के युग का वास्तविक द्रष्टा है। शान्ति का सर्जक है और क्रान्ति का जनक। यह उन ऋषियों की जीवन साधना का अर्क है, मधु है, नवनीत है, जिन्होंने अपने जीवन को संयम के कंटकाकीर्ण पथ में तप, ध्यान व आसन की कठोर साधना में लगाया था, उसका परिमार्जन किया था। उसे सजाया, सँजोया था व अपने जीवन की मंजिल प्राप्त की थी। आज इस अध्यात्मवाद को जीवन की धरती पर उतारना है। देश-देश के और राष्ट्र-राष्ट्र के प्रांगण में इसे अभिगुंजित करना है तथा आने वाले भावी कष्टों के झंझावातों से विश्व को बचाना है।''[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि महाराजश्री के चिन्तन में अहिंसा को सर्वोपरि स्थान प्राप्त है, बल्कि हम कह सकते हैं कि अहिंसा उनके चिन्तन

---

१ अहिंसा की बोलती मीनारें, पृ० २०७

२ अहिंसा की बोलती मीनारें, पृ २१९

का प्रवेशद्वार है, जिससे होकर उनके विचारों की वाहिनी गुजरती है। अहिंसा ही जैनदर्शन का नवनीत है, इसलिए अहिंसा की महत्ता असंदिग्ध रूप से सभी दर्शनों और सम्प्रदायों में सुरक्षित है।

इस अध्याय के अन्तर्गत हमने उनके जीवनदर्शन के इस प्रमुख पहलू के कुछ संकेतसूत्र दिये हैं। यदि इन सूत्रों का गम्भीरता से अध्ययन और मनन किया जाय तो श्री गणेशमुनिजो के विचारों को समझने में काफी सरलता और स्पष्टता हो सकती है। अहिंसा को केन्द्र मानकर उनके चिन्तन का सम्पूर्ण वृत्त खींचना सम्भव है। विज्ञान और अहिंसा के आपसी सम्वन्धों पर उन्होंने वड़े महत्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किये हैं। हम आशा करते हैं कि इन विचारों से विश्वशान्ति का मार्ग प्रशस्त होगा और विश्व कल्याण के सुनहले सपने यथार्थ में वदले जा सकेंगे। ❁

अध्याय ४

धर्म और दर्शन

प्राचीन भारतीय संस्कृति मूलतः अध्यात्म-प्रधान रही है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—जीवन के ये चार प्रमुख फल भी धर्म से ही प्रेरणा ग्रहण करते रहे हैं। भारतीय तत्त्वचिंतन में धर्म को सर्वोपरि महत्ता दी गई है। धर्म और दर्शन भारतीय संस्कृति के दो आलोकस्तंभ रहे हैं, जिनके माध्यम से यहाँ के मनीषियों और मीमांसकों ने जीवन के संपूर्ण महत्वपूर्ण प्रश्नों को समाधान के निकट ले जाने का प्रयास किया है। धर्म के द्वारा मनुष्य का लौकिक और पारमार्थिक जीवन सदैव प्रेरणा ग्रहण करता रहा है। आचरण और व्यवहार के साथ-साथ विवेक को संगति बैठाने में धर्म ने ही सबसे सुन्दर भूमिका निभायी है। दया, करुणा, अहिंसा, शील, दान जैसे उच्च आदर्शों की स्थापना में धार्मिक मान्यताओं का सक्रिय योग-दान रहा है। वैदिक धर्म से लेकर जैन, बौद्ध, इस्लाम तथा ईसाई जैसे प्रमुख धर्मों ने जीवन के कतिपय मूलभूत आदर्शों में अपनी सहमति व्यक्त करते हुए मनुष्य के भौतिक और आध्यात्मिक जीवन को मंगलमय बनाने का भरसक प्रयास किया है। दर्शन के द्वारा मनुष्य ने आत्मा, परमात्मा, जीव-जगत तथा प्रकृति के गूढ़ रहस्यों का सर्वथा संतुलित और तर्कसंगत उत्तर प्राप्त करने में मदद पाई है। धार्मिक मान्यताओं का मध्ययुग तक खूब बोलवाला रहा । वस्तुतः हमारी प्राचीन तथा मध्ययुगीन संस्कृति धर्म को केन्द्र में रखकर ही पल्लवित और विकसित होती रही है। यह बात अवश्य है कि धर्म का जो स्वच्छ और निर्मल रूप हमें प्राचीन भारतीय संस्कृति में मिलता है, वह मध्ययुग में आते-आते अपेक्षाकृत जड़ता के निकट पहुँचने लगता है। इस जड़ता को दूर करने के लिये मध्ययुग में अनेक संतों की ललकार सुनाई पड़ती है। जब कभी धार्मिक आदर्शों को

आडंवर और पाखंड के आवरण में लपेटने की कोशिश की गई है, क्रांतिकारी संतों ने इस प्रकार के प्रयत्नों का जमकर विरोध किया है। मध्ययुग में तो ऐसे कई महान संत और क्रांतिकारी धर्मसुधारक पैदा हुए हैं, जिन्होंने धर्म के नाम पर होने वाले कुचक्रों और दिखावे का पर्दाफास किया है। कवीर जैसे क्रांतिकारी संतों ने तो धर्म की रुढिग्रस्त मान्यताओं के आगे कई प्रश्नचिह्न लगा दिये और धर्म को कलुषित होने से वचाकर भारतीय तत्वचिंतन को एक नयी दिशा दी। रुढ़िवादिता और व्यर्थ की मान्यताओं से धर्म को अलग रखना काफी कठिन कार्य है। मध्ययुग में जिस अवतारवाद को इतनी वड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई, उसके मूल में भी धर्मरक्षण की भावना ही सर्वप्रमुख थी। गीता में भगवान श्रीकृष्ण का यह कथन—'यदा यदा हि धर्मस्य·······' धर्म के कुचक्रियों के खिलाफ एक गंभीर चेतावनी-सा प्रतोत होता है। और शायद इसी अर्थ में कुरुक्षेत्र, धर्मक्षेत्र वन गया। तुलसी ने अपने महान ग्रन्थों में जिस मर्यादा पुरुषोत्तम राम की कल्पना की, वहाँ भी धर्मरक्षा का अनुष्ठान ही सवसे प्रमुख कारण वन गया है। गीता की उक्ति को दुहराते हुए तुलसी ने रामचरितमानस में लिखा है—

जव-जव होंहि धरम कै हानी,
बाढ़हिं असुर महा अभिमानी,
तव-तव प्रभु धरि मनुज सरीरा,
हर्रहि सकल सज्जन कर पीरा।

इस प्रकार राम के सारे महान कार्यों में धर्म की स्थापना भी एक वड़ी सिद्धि प्रतीत होती है। इसी प्रकार जैन और वौद्ध धर्म के प्रवर्त्तक भगवान महावीर स्वामी तथा तथागत भगवान गौतम वुद्ध ने अपनी महान जीवनचर्या, तपस्या और आदर्शों के द्वारा धर्म का सर्वथा सुलभ रूप भारतीय जन-मानस के समक्ष प्रस्तुत किया है। इन महापुरुषों ने धर्म के नाम पर चल रहे अनेक अधार्मिक आचरणों की निन्दा की और एक ऐसे धर्म की नींव डाली जिसमें जातिगत उच्चता का कोई प्रश्न ही नहीं था।

धर्म बृहत् मानवसमाज का अंग है, वह किसी की ठेकेदारी नहीं है, ऐसा मानकर इन चितकों ने धर्म केनाम पर पल रहे पाखंडों, कृत्रिमताओं और वाह्य आचरणों की संकुचित मर्यादाओं का तीव्र निषेध किया। वैदिक धर्म के अनावश्यक और जटिल पक्षों का वहिष्कार करते हुए इन महान विभूतियों ने एक ऐसे विशाल धार्मिक वातावरण की सृष्टि की, जिसकी पवित्र मंदाकिनी में मज्जन कर समाज के सभी वर्ग पवित्र हो उठे।

लेकिन धर्म को निरंतर सत्य के निकट रखना वाँयें हाथ का खेल नहीं है। जरा-सी गफलत हुई नहीं कि धार्मिक मान्यताओं पर काई लगने लगती है। उस समय धर्म को संकीर्ण संप्रदायों में विभक्त कर दिया जाता है और उसकी महानताओं की छोटे-छोटे कटघरे में वाँटकर सुविधा के अनुसार नयी-नयी व्याख्यायें गढ़ ली जाती हैं। यहाँ धर्म का असली व्यक्तित्व तिरोहित हो जाता है और उसके स्थान पर एक कृत्रिम मर्यादा की पुष्टि कर दी जाती है। धर्म के नाम पर वड़े-वड़े हिंसक संग्राम होते हैं, आपसी स्वार्थ और दलगत भावनाओं को प्रश्रय दिया जाने लगता है। धर्मप्रचार के अनोखे हथकंडे अपनाये जाते हैं और ऐसे धर्मगुरुओं का प्रादुर्भाव होने लगता है जो जनता के सामने धर्म की वड़ी घिनौनी तस्वीर रखने लगते हैं। ऐसी स्थिति में यदि धर्म भी अन्धविश्वास, तंत्र मत्र तथा जादू टोने का रूप ले ले तो आश्चर्य ही क्या? इसका प्रत्यक्ष उदाहरण वौद्ध धर्म का अंतिम और विकृत चरण है। वौद्ध धर्म की महायान शाखा मंत्र-यान में परिणत हो गई और सिद्धि प्राप्त करने के लिये तंत्र-मंत्र का एक नया धर्म ही आकार ग्रहण कर बैठा। भैरवीचक्र, पंच मकार, मुद्रा, नारी के साथ मुक्त सहवास जैसी घोर अधार्मिक और अमर्यादित परपरायें इस देश में वहुत दिनों तक चलती रहीं, जो 'सिद्धसाहित्य' के नाम से प्रसिद्ध हुईं।

उर्दू के सुप्रसिद्ध शायर इकवाल ने कहा है—"मजहव नहीं सिखाता आपस में वैर रखना।" लेकिन मजहव और धर्म के नाम पर एक-से-एक विध्वंसकारी यंत्रणाएँ जन-मानस को झेलनी पड़ी हैं। ईसाई धर्म और इस-लाम धर्म के प्रारंभिक चरणों में अनेक ऐसे युद्ध मानवता को झेलने पड़े हैं,

जिनमें उसकी आत्मा सिसकती रही है । यहाँ विस्तृत मानवधर्म एक संकुचित परिधि में बाँध दिया गया और जिस धर्म का मूल काम आपसी सौमनस्य पैदा करना था, वह धर्म द्वेष और परस्पर वैमनस्य का मूल-कारण बन गया । अंगरेजी के विद्वान स्विफ्ट (Swift) ने एक स्थान पर लिखा है कि हमारे पास ऐसे धर्म तो बहुत हैं जो घृणा करना सिखाते हैं, लेकिन ऐसे धर्म बहुत कम हैं जो आपस में प्यार करना सिखाते हैं— (We have just enough religion to make us hate, but not enough to make us love, one another) मनुष्य धर्म के लिये लड़ता है, लेकिन धर्म के लिये जीता बहुत कम है । धार्मिक उन्माद एक ऐसी ही बीमारी है जिसने मानवता के सुन्दर चेहरे को कई बार विकृत और कुरूप बना दिया है । आज जब हम आये दिन समाचार पत्रों में पढ़ते हैं अथवा रेडियो में सुनते हैं कि देश के अमुक स्थान पर दो भिन्न धार्मिक संप्रदायों में कलह शुरू हो गई, जिसके पीछे अनेक लोगों को अपने जीवन से हाथ धोना पड़ा तो मन में बड़ा आघात सा लगता है, क्योंकि किसी भी धर्मग्रन्थ में अथवा धार्मिक परंपरा में यह बात नहीं कही गई है कि हम आपस में घृणा का विष फैलायें और धर्म अथवा मजहब के नाम पर एक दूसरे के गर्दन पर छुरी चलायें । सांप्रदायिक हिंसा धर्म के शरीर पर पलने वाला कोढ़ है जिसके निशान बहुत दिनों तक मानवता के सुन्दर शरीर को बदसूरत कर देते हैं ।

धर्म और अंधविश्वास तथा अंधश्रद्धा का आपस में कोई संबंध नहीं है । जिन घटनाओं अथवा कार्यों का हम कोई तार्किक निदान नहीं ढूँढ़ पाते उन्हींको हम भाग्य, अंधविश्वास अथवा अंधश्रद्धा के फ्रेम में फिट कर देते हैं । अंधविश्वास की जड़ें बहुत गहरी होती हैं और ये सदियों तक हस्तांतरित होते रहते हैं । अंधविश्वास भी परस्पर संदेह का बहुत बड़ा कारण बन जाता है । जहाँ हमारे ज्ञान की परिधि छोटी होती है, वहीं अंधश्रद्धा अपना आसन जमा लेती है । इतिहास में ऐसी अनेक घटनायें मिलती हैं जहाँ धर्म के ठेकेदारों ने जनता की अंधश्रद्धा का गलत फायदा उठाया है और उसे धर्म के माथे पर मढ़ दिया है । इस युग के सुप्रसिद्ध विचारक कार्ल मार्क्स ने ऐसी ही अंधश्रद्धा से घृणा करते हुए धर्म को एक प्रकार की अफीम कहा था । वस्तुतः उनका उद्देश्य धर्म की रुढ़िवादी

रुझान और मनुष्य को विवेकशून्य तथा क्रियाहीन बनाने की गलत परिपाटीका विरोध करना था। इस संबंध में मुनि कांतिसागर का यह कथन श्लाघनीय है—"यदि धर्म को एक विशुद्ध और व्यवहारवादी दृष्टि में स्वीकार कर लिया जाये और इसके आगे किसी भी प्रकार अभिशप्त न किया जाय तो यह ऐसी आत्मौपम्य-मूलक दृष्टि प्रदान करेगा कि प्रत्येक विचारको सहानुभूति और सहिष्णुता-मूलक दृष्टि से दूसरों को समझने का पर्याप्त अवसर प्राप्त होगा, जिससे न वैयक्तिक मनमुटावों की वृद्धि होगी, न जन-जन में वैर-विरोध और संतुलन विकृत होने की स्थिति का निर्माण होगा।"

कुछ लोगों ने धर्म को भाग्यवाद का पर्याय मान लिया है। यह भी धर्म के साथ अन्याय है। भाग्य के उत्थान-पतन की कोई धार्मिक व्याख्या नहीं की जा सकती। भाग्यवादी मनुष्य धर्मभीरू भले ही वन जाये किंतु वह धर्म के उच्च आदर्शों का पोषक नहीं वन सकता। धर्मभ्रष्ट होने से ईश्वर को नाराजगी उसे डरा तो सकती है किंतु उसके कार्यों को सर्वथा धार्मिक वने रहने में मदद नहीं दे सकती। आज देश में धर्मभीरुओं की एक वड़ी सेना चारों तरफ खड़ी दिखाई पड़ती है जो पाप और पुण्य, स्वर्ग और नरक जैसी अनेक जटिलताओं में त्रस्त होकर अपने को धार्मिक होने का ठेका लिये घूमते हैं, लेकिन धर्म से डरना एक बात है और धर्म के अनुसार कार्य करना दूसरी वात है। जिस दिन मनुष्य के मन में धर्म के प्रति सच्ची समझदारी का वोध होगा उस दिन धर्म की स्वतः स्थापना होगी और इसके लिये व्यर्थ के धार्मिक पाखंडों से वचा जा सकेगा। लकीर के फकीर वनना कोई बुद्धिमानी नहीं है। आज धर्म भी आधुनिक परिस्थितियों के अनुकूल अपना चेहरा वदल रहा है। विज्ञान ने अनेक धार्मिक मान्यताओं के सामने प्रश्नचिह्न लगा दिये हैं। कुछ लोगों को भय है कि इससे धर्म की हानि होगी किंतु बात ऐसी नहीं है। अंधविश्वास और अन्धश्रद्धा के नाम पर पलने वाली अनेक कुरीतियों का इससे पर्दाफाश अवश्य होगा। धर्म के वास्तविक स्वरूप को विकृत करने वाली गलत साजिशों का उद्घाटन अवश्य होगा। धर्म विज्ञान का प्रतिद्वन्द्वी नहीं है वल्कि दोनों का उद्देश्य सत्य की खोज करना ही है, इसलिये वैज्ञानिक उपलब्धि की इस

चकाचौंध में सच्चे धार्मिक को घवड़ाने की आवश्यकता नहीं है। उसे तो विज्ञान की रोशनी में धर्म को अच्छी तरह से पहचानने का सुअवसर प्राप्त होगा। मन के ऊपर अंधश्रद्धा की जो अनेक पर्तें जम गई हैं, उनसे मुक्त होने की सुखद अनुभूति होगी।

आज प्रायः यह शिकायत सुनने को मिलती है कि लोगों के मन में धर्म के प्रति श्रद्धा शेष नहीं रह गई है। इस प्रकार की वातें प्रायः वे लोग कहते हैं जो श्रद्धा को भी अंधविश्वास की पर्याय मान लेते हैं। इसके वारे में आचार्य विनोवा भावे का यह कथन विचारणीय है कि—"सात्विक लोगों को एकांत छोड़ना चाहिये और वाजार में आना चाहिये। जव तक धर्म वाजार में नहीं आयेगा। और मन्दिर, मठ, मस्जिद में ही कैद रहेगा, तव तक उसकी शक्ति नहीं वढ़ेगी। इधर तो दान-धर्म चलता है पर वाजार में धोखाधड़ी चलती है। धर्म डरपोक वनकर मंदिर में बैठा रहता है। अव उसको आक्रमण करना चाहिये यानी वाजार में, व्यवहार में, राजनीति में धर्म चलना चाहिये।' यह कथन अक्षरशः सत्य है। धर्म का व्यावहारिक पक्ष भी काफी प्रवल होता है। संसार में धर्मग्रन्थों की कमी नहीं किन्तु धर्म का अभाव है। आज हमें धर्म को जन-जीवन के निकट लाना पड़ेगा और जनता के मन में यह विश्वास पैदा करना पड़ेगा कि धर्म कोई कोरा शब्दजाल नहीं है, वल्कि मनुष्य के व्यावहारिक जीवन में सुन्दर आचरण, संयम और उदारदृष्टि ही धर्म है। जैन और वौद्ध धर्मों ने इसीलिये वैदिक धर्म का विरोध किया था, क्योंकि वैदिक धर्म जटिल कर्मकांडों की संकीर्ण वीथिका पर चल निकला था। इस देश के सुप्रसिद्ध विचारक और राजनीतिज्ञ चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य ने धर्म को कट्टर मतों का पिटारा न मानकर 'आत्मा की खोज का शास्त्र' कहा है। जव कोई धर्म वृहत् जनसमाज से कटकर मात्र दार्शनिक मत-मतांतरों की स्थापना-प्रस्थापना के चक्कर में पड़ जाता है, तव वह धर्म जीवंत नहीं रह पाता और उसे विस्तृत परिधि से हटाकर एक संकीर्ण कटघरे में वन्द कर दिया जाता है। आज संसार में वे ही धर्म विकसित और समृद्ध हो रहे हैं जिनमें धार्मिक कट्टरता की अपेक्षा अन्य धर्मों के अच्छे विचारों का आदान-प्रदान

वना हुआ है तथा जो निरन्तर व्यावहारिक जीवन की सीमा का संस्पर्श करते चल रहे हैं। जिन धर्मों की पाचनशक्ति खराव हो गई है अर्थात् जिनमें दूसरे धर्मों के वैचारिक महत्व को स्वीकार करने की शक्ति क्षीण हो गई है, वे धर्म अपनी उचित भूमिका का निर्वाह नहीं कर पा रहे हैं।

इस विस्तृत भूमिका के वाद हम आपको श्री गणेशमुनि जी शास्त्री के धर्म सम्वन्धी विचारों का संक्षिप्त इतिवृत प्रस्तुत करना चाहेंगे, जिससे उनकी धार्मिक मान्यताओं का सर्वेक्षण हो सके। यहाँ हम इस वात को प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि मुनिश्री के धार्मिक विचारों में एक प्रकार की सहृदयता है। वे अन्य धर्मों की श्रेष्ठ वातों को समझने और स्वीकार करने से पीछे हटने वाले व्यक्ति नहीं हैं। जिस प्रकार इसके पहले अध्याय में हमने उनके अहिंसा सम्वन्धी विचारों का मूल्यांकन किया है, उसी प्रकार इस अध्याय में उनके धर्म और दर्शन-सम्वन्धी विचारों की एक झलक उपस्थित करना चाहेंगे। जिस विस्तार के साथ मुनिश्री ने अहिंसा के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डाला है, उतने विस्तृत रूप से उन्होंने धर्म और दर्शन पर अपनी मान्यताओं की घोषणा नहीं की है। धर्म और दर्शन सम्वन्धी उनके विचार उनकी अनेक कृतियों में स्फुट रूप से विखरे पड़े हैं। यदि उन विचारों का उचित रूप से संग्रह किया जाय, तो हम इस क्षेत्र में भी उनकी सारग्राहिणी क्षमता का परिचय पा सकते हैं। 'अहिंसा की वोलती मीनारें' और 'आधुनिक विज्ञान और अहिंसा' जैसी मौलिक कृतियों में मुनिजी ने अपने धर्म और दर्शन सम्वन्धी विचारों को यत्र-तत्र प्रस्तुत किया है। जैनमतावलम्वी तथा साधक होते हुए भी मुनिजी के विचारों में किसी प्रकार की संकीर्णता अथवा साम्प्रदायिकता को खोज पाना सरल नहीं है। अपनी उदारदृष्टि का परिचय देते हुए उन्होंने ऐसी अनेक समस्याओं का उल्लेख किया है, जिनका प्रत्यक्ष सम्वन्ध जैनधर्म तथा दर्शन से नहीं परिलक्षित होता। वस्तुतः वे जन-मानस के सामने धर्म और दर्शन की स्पष्ट आकृति रखना चाहते हैं, ताकि इनके सम्वन्ध में फैले अनेक भ्रमों का समाधान हो सके। आइये, हम सवसे पहले मुनिजी के धर्म

के सम्बन्ध में उसके स्वरूप तथा परिभाषा को लेकर चलने वाले विचारों का मूल्यांकन करें।

धर्म : स्वरूप और परिभाषा

शंकराचार्य ने एक स्थान पर लिखा है—"**शब्दजाल महारण्यं चित्तभ्रमणकारणम्**" अर्थात् शब्द जाल के महान वन में चित्त का भ्रमित हो जाना असम्भव नहीं। धर्म को लेकर आज तक संसार में इतनी परिभाषाएँ बन चुकी हैं कि उसके स्वरूप के सम्बन्ध में दो टूक बात कह पाना बहुत कठिन हो गया है। अगर इन सारी परिभाषाओं को एक स्थान पर एकत्र कर दिया जाय तो शब्दों का महारण्य अवश्य तैयार हो जायेगा लेकिन उससे वास्तविक धर्म का पता मिलना शायद असम्भव हो जाये। धर्म के नाम पर चल रहे वैचारिक संघर्षों ने भी इस समस्या के सुलझाने का कोई सरल मार्ग नहीं बताया है, बल्कि "मर्ज तो बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की" जैसी स्थिति उत्पन्न कर दी। सबसे पहले यह जानना जरूरी है कि धर्म का वास्तविक अर्थ है क्या? मुनिजी ने लिखा है कि—"धर्म जीवन का एक ऐसा महत्वपूर्ण अंग है, जहाँ मानव कुछ क्षणों के लिये अपने आपको सांसारिक यंत्रणाओं से मुक्ति पाते हुए आध्यात्मिक आनन्द का अनुभव करता है। वह लौकिक जीवन में रहकर भी धर्म द्वारा आंतरिक चित्तवृत्ति में लीन होने के कारण लोकोत्तर या अनिर्वचनीय सुख का बोध करता है।"[1] इसका तात्पर्य यह है कि धर्म का प्रत्यक्ष-जीवन से बहुत निकट का सम्बन्ध है और इसकी वास्तविक परीक्षा भी व्यावहारिक जीवन में होती है। जो लोग यह समझते हैं कि धर्म को जीवन से स्पर्श करते ही हानि उठानी पड़ेगी, अथवा धर्म के ऊपर किसी प्रकार की काली छाया मँडराने लगेगी, उनसे मुनिजी के विचार मेल नहीं खाते। इसके विपरीत वे यह मानते हैं कि अंतर्जगत से संबद्ध रहने के बावजूद धर्म का वास्तविक स्वरूप व्यावहारिक है। धर्म भी मानव आचरण का एक अनिवार्य अंग है और यह आचारमूलक व्यवस्था समय-समय पर

---

१. आधुनिक विज्ञान और अहिंसा, पृ. ३४

परिवर्तित होती रहती है। धर्म जड़वस्तु न होकर परिवर्तनशील है। परिस्थितियों के संघात से उसमें भी परिवर्तन के लक्षण प्रगट होते हैं। परिवर्तन ही इसकी संजीवनी शक्ति है। इसीलिये वे लिखते हैं कि—"जब हम ऋतु के अनुसार वस्त्र परिवर्तन कर मूलरूप में अपनी देह का रक्षण करते हैं, तो व्यापक रूप से परिवर्तित परिस्थितियों में भी बाह्य व्यवहार में परिवर्तन कर अपनी मूल वस्तु की रक्षा कर सकते हैं। यह परिवर्तन जीवनशक्ति ही प्रदान नहीं करता किंतु विचारों में भी क्रांति समुत्पन्न करता है।

धर्म का स्वरूप इतना गूढ़ और जटिल है कि उसकी कोई सर्वमान्य परिभाषा नहीं बन सकती। हम जीवन में जिसे धर्म समझकर व्यवहार के स्तर पर लाते हैं, उसे परिभाषित करना काफी कठिन है। धर्म की अब तक जो भी परिभाषायें दी गई हैं, उन सबमें संसार के सारे धर्मों का समावेश संभव नहीं है। जैनदर्शन के प्रमुख विद्वान पं० श्री सुखलालजी संघवी ने अपने बहुप्रशंसित ग्रन्थ 'दर्शन और चिंतन' में लॉर्ड मार्ले के कथन को उद्धृत करते हुए बताया है कि—"धर्म की लगभग दस हजार व्याख्यायें हो चुकी हैं, फिर भी उसमें सभी धर्मों का समावेश नहीं होता। बौद्ध, जैन आदि धर्म उन व्याख्याओं से बाहर ही रह जाते हैं।" पं० सुखलालजी के कथन का तात्पर्य यही है कि धर्म की हम चाहे कितनी भी परिभाषायें गढ़ लें, फिर भी सभी धर्मों का स्वरूप उनमें समाविष्ट नहीं हो सकता। वस्तुतः धर्म का सम्बन्ध आत्मा से है और आत्मा इतनी सूक्ष्म और अलौकिक है कि धर्म की कोई परिधि नहीं बनायी जा सकती। आज जगह-जगह पर धर्म की चर्चा करने वाले व्यक्ति मिल जाते हैं जो ब्रह्म, मोक्ष, माया और आत्मा की चर्चा इस प्रकार करते हैं जैसे वे ही उन विषयों के एकमात्र अधिकारी विद्वान हैं। उनके वाणीविलास को देखकर कभी-कभी तरस आता है, क्योंकि वे जितना अन्याय अपने साथ करते हैं, उतना धर्म के साथ भी। धर्म केवल शाब्दिक चर्चा का ही विषय नहीं है, बल्कि इसका जीवन से अत्यंत गहरा संबंध है। धर्म चर्चा से ज्यादा अनुभव की वस्तु

---

१. वही, पृ-३५

है। श्री गणेशमुनि जी शास्त्री का यह कथन पर्याप्त विचारोत्तेजक है कि—"ईमानदारी के साथ यदि देखा जाय तो धर्म केवल वाणी तक ही सीमित रहने वाला तत्व नहीं, अपितु इसके सिद्धान्त दैनिक जीवन में ओतप्रोत रहने चाहिये। धर्म के मर्म तक बहुत कम लोग पहुँच पाते हैं। जिनकी पहुँच है, उनकी वाणी मौन रहती है।"[1]

जैनधर्म बहुत ही व्यापक और प्रतिष्ठित धर्म के रूप में विख्यात है। अहिंसा और प्राणिमात्र का सर्वोदय ही जैनधर्म के मूल तत्व हैं। समस्त प्राणीसमाज एक साथ मिलकर जीवन के उत्थान की भरसक कोशिश करे, जातिगत उच्चता और नीचता का परित्याग कर आपस में बंधुत्व की स्थापना करे, ऐसा जैनधर्म का अडिग विश्वास है। मनुष्य अपनी सर्वोच्च स्थिति में देवत्व को प्राप्त कर सकता है। मनुष्य के लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं है। जिस दिन मनुष्य जीवन के निचले स्तर से उठकर ज्ञान के दिव्य प्रकाश से आलोकित हो उठेगा, उसी दिन वह देवता बन जायेगा। धर्म आडंबर और पाखंड से कोई संबंध नहीं रखता। मुनिजी ने बड़े स्पष्ट शब्दों में लिखा है—"वह इतनी क्रांतिकारी घोषणा करता है कि अपने उत्थान-पतन में किसी को साधक-बाधक नहीं मानता, वह अपने विकास के लिये ईश्वर तक की पराधीनता में तनिक भी विश्वास नहीं रखता। उत्थान-पतन का दायित्व व्यक्ति के पुरुषार्थ पर अवलंबित मानता है। वरदान या अभिशाप जैसी कोई वस्तु जैनदर्शन में नहीं पनपी। अवतार-वाद को भी वह अस्वीकार करता है। वह मनुष्य को इतना विकसित प्राणी मानता है कि उसे परमात्मा तक होने का अधिकार प्राप्त है।"[2] मनुष्य इसीलिये देवता नहीं बन पा रहा है, क्योंकि वह सांसारिक विषय-वासनाओं में लिप्त है। जिस दिन वह इन सीमाओं से मुक्त हो जायेगा, उस दिन उसे एक विशिष्ट आध्यात्मिक प्रकाश प्राप्त होगा और वह देवत्व की मर्यादा को स्पर्श कर लेगा।

---

१. आधुनिक विज्ञान और अहिंसा, पृ. ३५
२. आधुनिक विज्ञान और अहिंसा, पृ. ३६

प्रसिद्ध जैनाचार्य कुन्दकुन्द ने धर्म की संक्षिप्त किंतु सारगर्भित व्याख्या करते हुए कहा है—"वत्थु सहावो धम्मो" अर्थात् वस्तु का स्वभाव ही धर्म है। स्वभावप्राप्ति मनुष्य की सबसे बड़ी समस्या है। प्रत्येक पदार्थ अथवा जीव का जो अपना निजी स्वभाव है, वही उसका मूल धर्म है। आत्मा का मूल धर्म आत्मभाव है और जब वह अपने मूल धर्म से अलग होकर पुद्गलों के विकारों में रमण करती है, तब वह अधर्म की ओर बढ़ जाती है। जीवन के उच्च उद्देश्यों से भटककर जब मनुष्य सांसारिक सुख और वैभव को भी सब कुछ मान लेता है तभी वह धर्म के मार्ग से अलग होकर अधर्म के गर्त में गिर पड़ता है। इसीप्रकार अनेक परवर्ती जैन मुनियों तथा दार्शनिकों ने धर्म की प्रशस्त और सारगर्भित व्याख्यायें की हैं। इन व्याख्याओं में धर्म को जीवन के विस्तृत क्षेत्र में पदार्पण करने को कहा गया है और सामाजिक मर्यादा तथा नीति को ध्यान में रखते हुए धर्मचर्या की मंगल कामना की गई है।

धर्म : प्रादुर्भाव के मूल स्रोत

धर्म शब्द 'धृ' धातु से प्रादुर्भूत हुआ है, जिसमें 'मय' प्रत्यय जोड़ने से धर्म शब्द बनता है। इसका तात्पर्य है—"धारण करने वाला।" जहाँ तक धारण करने का प्रश्न है, संसार के समस्त धर्म और संप्रदाय एकमत हैं, पर जो धारण कराया जाता है, वही मत-वैभिन्न्य का मूल कारण है। प्रत्येक धर्म और संप्रदाय अपने अनुकूल तथ्यों को धारण करता है और ये तथ्य ही कालांतर में धर्म का रूप ग्रहण कर लेते हैं।

वैसे तो यह कहना संभव नहीं है कि अमुक दिन अथवा तिथि को धर्म का आविर्भाव हुआ, लेकिन इतना अवश्य कहा जा सकता कि मानव समाज के तथ्य तथा सुसंस्कृत होते ही धर्म ने अपना अस्तित्व ग्रहण कर लिया होगा। धर्महीन सुसंस्कृत समाज की कल्पना ही काफी दुष्कर है। संसार के जिस कोने में जाइये, आपको कोई-न-कोई धर्म अवश्य प्रचलित मिलेगा। धर्म के ऐतिहासिक चरणों के ऊहापोह में न पड़कर हम यह कह सकते हैं कि धर्म का प्रत्यक्ष सम्बन्ध श्रद्धा से है। यहाँ श्रद्धा का वास्तविक

तात्पर्य समझ लेना जरूरी है, अन्यथा रुढ़िवादी और विचार-परंपरा में आये व्यक्ति अंधविश्वास को भी श्रद्धा के नाम से अभिहित कर देंगे। श्रद्धा का वास्तविक अर्थ है विशेष प्रकार के विचारों के सत्य में अटूट विश्वास। आज का युग बुद्धिवादी है। इस युग का मानव प्रत्येक वस्तु अथवा विचार को तर्क और बुद्धि की कसौटी पर कस के ही उसकी जाँच-परख करने का हिमायती है। श्रद्धा की घूंटी पिलाकर किसी को कोई भी अनर्गल विचार मानने के लिये विवश नहीं किया जा सकता। समाज में जब-जब विचारों की नई क्रांति आती है, तथाकथित धार्मिक व्यक्ति के कान सबसे पहले खड़े हो जाते हैं और उसके मन में नई विचारधारा के प्रति संशय पैदा हो जाता है। इसलिये परंपरा-प्रेमी व्यक्ति प्रायः धार्मिक हुआ करते हैं और नई पीढ़ी उनकी कटु आलोचना का पात्र होती है। लेकिन इस सम्बन्ध में श्री गणेशमुनिजी का विचार पर्याप्त भिन्न है। वे यह मानते हैं कि "प्रखर बौद्धिकता की आँच के सम्मुख पुरानी रूढ़ियाँ और विचार पिघलने लगते हैं।" फिर भी आज की बुद्धिवादी मानव-संतान के समक्ष धर्म की भी नई व्याख्या की आवश्यकता है। अगर धर्म को केवल श्रद्धा का ही विषय बनाकर रखना है और उसे बुद्धि तथा तर्क की प्रखर आँच से दूर रखना है, तो आज का युग धर्म का बहुत दूर तक साथ नहीं देगा। विज्ञान ने अनेक पुरानी मान्यताओं को झुठला दिया है और धर्म को यह चुनौती स्वीकार करनी पड़ेगी कि वह पाखंड और पुरातनता के खंडहर से निकलकर प्रशस्त राजमार्ग पर गतिशील हो।

धर्म की उत्पत्ति को लेकर जैनदर्शन की अपनी एक अलग मान्यता है। जैनमतावलंबियों का यह विश्वास है कि भगवान ऋषभदेव ने इस अवसर्पिणी युग में सर्वप्रथम धर्म का सूत्रपात किया। यह धर्म मूलतः आध्यात्मिक था लेकिन जीवन की लौकिक आवश्यकताओं को भी इसमें सम्मिलित किया गया था। मनुष्य के भौतिक विकास को ठुकराकर मात्र अलौकिक आदर्शों की सृष्टि करना भगवान ऋषभदेव को पूरी तरह स्वीकार नहीं था। वे मानवसमाज का सर्वांगीण विकास चाहते थे। मुनिजी के अनुसार—"ऋषभदेव इतने दीर्घदर्शी थे कि उन्होंने आत्म-कल्याण के साथ

विश्व-व्यवस्था पर भी पूर्णतः ध्यान दिया।"[1] कालांतर में उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म सभी तीर्थकरों को मान्य हुआ और इस प्रकार जैनधर्म की परंपरा का निरंतर विकास होता गया।

धर्म की उत्पत्ति और उसकी स्थिति को लेकर वैदिक चिंतन के निर्णय अपेक्षाकृत भिन्न हैं। महर्षि व्यास, कणाद और गौतम जैसे चिंतकों ने धर्म के संबंध में अपने मौलिक विचार प्रस्तुत किये हैं। लेकिन इनकी विचार-श्रृंखला में अध्यात्म तत्व को प्रमुखता दी गई है। इसी प्रकार पश्चिम के प्रमुख विचारकों ने भी अपनी चिंतनधारा में धर्म की भौतिक व्याख्यायें भी प्रस्तुत की हैं। पश्चिम के पंडितो ने फायर वॉरव, हीगेल, कांट और जॉन ह्यूम आदि गवेषकों ने धर्म को मानव की स्वाभाविक भावना और आकांक्षा का परिणाम बताया है। जो भी हो, पश्चिम में भी धर्म की महत्ता और उसकी सिद्धि के लिये शताब्दियों तक चिंतन चलता रहा है।

धर्म-संबंधी चिंतन में मुनिजी की दृष्टि सांप्रदायिकता से सर्वथा भिन्न है। वे यह मानते हैं कि धर्म का सांप्रदायिकता अहित ही करती है। इस संबंध में उनका स्पष्ट निदेश है—"प्रत्येक धर्म का अनुयायी अपने द्वारा आचरित प्रणाली को ही धर्म का आदि रूप बताता है। और अपेक्षित ज्ञान की अपूर्णता के कारण दूसरों के सिद्धांतों को गलत बताता है। यह कोई ऐतिहासिक समीक्षा नहीं है, पर सांप्रदायिक व्यामोह है। कोई भी धर्म असत्य पर टिक नहीं सकता। सचाई से प्रायः सभी वेष्टित हैं। जिसे अपनी साधना में जितने अंश तक सफलता प्राप्त हुई, उसी अनुभूति को उसने अभिव्यक्त किया।"[2]

धर्म : उद्देश्य और प्रयोजन

आज के वैज्ञानिक युग में यह सवाल बड़े जोर-शोर से उठाया जा रहा है कि हमारे भौतिक जीवन में धर्म का क्या महत्व है अथवा धार्मिक

---

१. आधुनिक विज्ञान और अहिंसा, पृ. ३९

२. आधुनिक विज्ञान और अहिंसा, पृ ३८

जीवन की तात्कालिक उपादेयता क्या है ? यह बात तो निश्चित रूप से कही जा सकती है कि आज विज्ञान ने जीवन के सामने जो प्रत्यक्ष सुविधायें और भौतिक साधन उपलब्ध कर दिये हैं, उनकी तुलना में धर्म की प्रत्यक्ष उपलब्धियों पर बहुत स्पष्ट रूप से इंगित कर पाना संभव नहीं है। भारतीय संस्कृति धर्म-प्रधान रही है और यह भी कटु सत्य है कि धर्म को लेकर यहाँ सांप्रदायिक भावनाओं को कम प्रश्रय नहीं दिया गया है और जातिवाद तथा कर्मकांड की विषमता के मूल में भी विभिन्न धर्मावलंबियों का प्रमुख योगदान रहा है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि धर्म का उद्देश्य ही जातिवाद और संप्रदाय को पोषित करना है, बल्कि वास्तविक धर्म तो वही है, जो सामाजिक जीवन की इन कटुताओं को धो डाले और विश्व-बंधुत्व तथा मानव-प्रेम की महत्ता का प्रतिपादन करे। धर्म जैसी निर्मल वस्तु में जब सांप्रदायिकता के धब्बे लग जाते हैं, तो सारा वातावरण दूषित हो जाता है, इसलिये हमें प्रयत्न यह करना चाहिये कि हम धर्म के आंतरिक रहस्य को समझें, उसकी मूल मान्यताओं पर विचार करें और तब अपने मन में धर्म के प्रति कोई निश्चित धारणा बनायें। वस्तुतः कोई भी धर्म सांप्रदायिक नहीं होता। धर्म को संप्रदाय का रंग हम देते हैं। अगर सभी धर्मों की मूल मान्यताओं को एकत्र करें तो उनमें इतना अंतर नहीं दिखायी पड़ेगा, जितना अंतर हमने ऊपर से आरोपित कर दिया है। श्री गणेशमुनिजी शास्त्री ने इस समस्या पर अपने विचार स्पष्ट करते हुए लिखा है "सच बात तो यह है कि धर्म के नाम पर आपत्तियाँ तब खड़ी होती हैं, जब इस आत्मिक और परम निर्मल वस्तु के साथ ही अपने-अपने संप्रदाय को संयुक्त कर देते हैं और तब असहिष्णुवृत्ति के प्रोत्साहन से ही धर्म अपयश का भागी बनता है। आंतरिक धर्म एकत्व का ही प्रतिपादक है, भेद का नहीं।"[1]

लेकिन इस संदर्भ में श्री गणेशमुनिजी का अत्यंत संतुलित दृष्टिकोण उनकी लोकप्रिय पुस्तक 'प्रेरणा के बिंदु' में प्राप्त होता है। इस पुस्तक में उन्होंने यह स्पष्ट शब्दों में बताया है कि धार्मिक वाद-विवाद एवं मत-

१. आधुनिक विज्ञान और अहिंसा, पृ. ४०

भेदों के झंझावातों से मुकावला लेने के लिये भी सहिष्णुता की अत्यंत आवश्यकता है। भगवान महावीर स्वामी ने कहा है कि जो धार्मिक दृष्टि से सहिष्णु नहीं हैं, वे इस संसार-सागर को पार नहीं कर सकते। सम्राट अशोक ने तो अपने शिलालेखों में जनता से धार्मिक सहिष्णुता के संवंध में अत्यंत विनम्र निवेदन किया है। इसी क्रम में श्री गणेशमुनि जी अपनी मान्यता व्यक्त करते हुए कहते हैं—'सिद्धांत, दर्शन और धर्म को लेकर जीवन, समाज और राष्ट्र में कलह तथा द्वेष फैलाना निरी मूर्खता ही नहीं, महान अपराध भी है। धर्म और दर्शन तो जीवन निर्माण के लिये ही हैं, विध्वंस के लिये नहीं, शांति के लिये हैं, कलह के लिये नहीं।"[१]

आज मानव-जाति नैतिक और चारित्रिक पतन का वहुत वड़ा अभिशाप भोग रही है। भ्रष्टाचार राष्ट्रीय जीवन पर अमरवेल की तरह पनप रहा है। छात्रों में अनुशासनहीनता, सरकारी कर्मचारियों में वढ़ता हुआ असंतोष, गरीवी और दरिद्रता, वेकारी और भूख, प्रांतीयता और भाषावाद के झगड़े आदि राष्ट्रीय जीवन के कलंक वने हैं। हिंसा, चारित्रिक पतन, सांप्रदायिक संघर्ष आदि से मानव जाति भयाक्रांत हो रही है। इस स्थिति में मनुष्य को आत्मिक सुख कहाँ से प्राप्त हो ? मुनिजी ने इस प्रश्न पर गंभीरता से विचार करके यह निष्कर्ष दिया है—"आज के वौद्धिक युग में वास्तविक जीवन में संतुलन को वनाये रखने के लिये पर-मार्थ वृत्ति या धर्म का होना अत्यंत आवश्यक है। अनैतिकता द्वारा आज जो राष्ट्रीय चरित्र का दिनानुदिन ह्रास हो रहा है, इसका एक मात्र कारण धार्मिक शिक्षा का अभाव ही है। वालक के मन में प्रारम्भिक शिक्षा के साथ ही नैतिकता और धर्म के संस्कार डाल दिये जायें, तो कोई कारण नहीं कि राष्ट्रीय चरित्र का धरातल गिरता रहे।"[२]

यहाँ थोड़ा रुककर धार्मिक शिक्षा के स्वरूप पर विचार कर लेना आवश्यक है। धार्मिक शिक्षा का अर्थ किसी जटिल कर्म-कांड की ओर जनमानस को प्रेरित करना नहीं, वल्कि भौतिक और आध्यात्मिक जीवन

---

१. प्रेरणा के विंदु, पृ. ३२
२. आधुनिक विज्ञान और अहिंसा, पृ. ४०

के उभय पक्षों को उचित महत्त्व देते हुये, दोनों के विकास का मार्ग प्रशस्त करना है। हमने वर्तमान शिक्षापद्धति को जितना व्यावसायिक वना दिया है, उतना आध्यात्मिक नहीं। भारतीय विद्यार्थी पश्चिम के विचारकों और उनकी विचारधारा पर घंटों भाषण करने में भले ही थकावट का अनुभव न करें, किंतु राष्ट्रीय जीवन के मूल सांस्कृतिक प्रश्नों से उनका संवंध-विच्छेद हो गया है। प्राचीन समय में तक्षशिला और नालंदा जैसे विश्वविद्यालयों में जीवन को समग्र रूप से आगे वढ़ाने के लिये ज्ञान-विज्ञान तथा कलाओं की विधिवत् जानकारी देते हुए आचार्यों ने आध्यात्मिक मूल्यों को भुलाया नहीं था। वौद्धिक विकास के साथ ही अतश्चेतना में भी वास्तविक ज्ञान की प्रकाशवर्षा करके भारतीय गुरुओं ने देश को सुन्दर नेतृत्व प्रदान किया। चाणक्य जैसे विचारक ऋषि और राजनीति शास्त्र के प्रकांड पंडित ने देश की राजनीतिक सत्ता को संभालने के लिये चन्द्रगुप्त जैसे होनहार और प्रतिभाशाली नवयुवक को प्रेरित किया था। किंतु आधुनिक युग में हम अपने को महान ऋषियों की संतान कहकर संतोष भले ही कर लें, उनके वताये हुये मार्ग पर चलने का कुछ भी उपक्रम नहीं करते।

महर्षि मनु ने विद्या की सार्थकता वतलाते हुए कहा था कि विद्या वही है जो व्यक्ति को संसार के बंधनों से मुक्त कर मोक्ष की दिशा में प्रेरित करती है—"सा विद्या या विमुक्तये।" तव से लेकर आज तक अनेक विचारकों ने विद्या के वास्तविक उद्देश्य और प्रयोजन को निरंतर उद्घाटित किया है। महात्मा गांधी की यह दृढ़ मान्यता थी कि यदि भारत की आध्यात्मिकता को जीवित रखना है तो वच्चों को धार्मिक शिक्षा देनी होगी। देशरत्न डॉ० राजेन्द्रप्रसाद का भी यह दृढ़ विश्वास था कि "विज्ञान द्वारा प्रदत्त भौतिक उन्नति और मानवीय मूल्यों पर स्थापित नैतिक उन्नति, ये दोनों साथ-साथ चलनी चाहिये।" आज देश के नवयुवक और नवयुवतियाँ यदि इस तथ्य को ठीक से ग्रहण कर सकें तो देश की उन्नति में विलंव नहीं होगा। चरित्र ही देश की आधारशिला है, इसलिये चरित्र-निर्माण के लिये हमें देश के महान् पुरुषों के वताये हुए मार्ग पर चलने का आत्म-

वल एकत्र करना होगा। श्री गणेशमुनिजी ने इसी आशय को इन शब्दों में व्यक्त किया है—"आज वर्तमान और भावी विद्यार्थियों के प्रति राष्ट्र के कोटि-कोटि नेत्र आशा के लिये झाँक रहे हैं। उन्हें एक दिन समस्त मानवजाति के लिये कल्याण एवं मंगल का अभिनव द्वार खोलना है और यह भौतिक शिक्षा के साथ-साथ धार्मिक शिक्षा से ही संभावित हो सकेगा।"[1]

धर्म और विज्ञान

आधुनिक युग में धर्म और विज्ञान एक दूसरे को चुनौती देते-से प्रतीत होते हैं। विज्ञान की निरन्तर प्रगति धार्मिक विश्वासों के समक्ष संकट पैदा करती जा रही है। नित्य नये तथ्यों का उद्घाटन हमारे अन्धविश्वासों और अन्धश्रद्धा को जड़मूल से समाप्त करने की स्थिति पैदा कर रहे हैं। भौतिक सुविधाओं का अम्बार मनुष्य को भोग और वासना की अनेक अनजानी राहों पर चलने के लिए प्रेरित कर रहा है। फिर भी क्या मनुष्य वास्तविक सुख को प्राप्त कर सका है ? जिस प्रकार रेगिस्तान में मृगतृष्णा शान्त नहीं होती, उसी प्रकार अनेक भौतिक साधनों के होते हुए वास्तविक सुख और शान्ति की मर्यादाएँ खिसकती जा रही हैं। लेकिन इसके मूल में हमारी जीवनदृष्टि की गहरी नासमझ है। हमने धर्म और विज्ञान को उसके वास्तविक उद्देश्य से च्युत करके गलत राहों पर भटका दिया है।

धर्म का सम्वन्ध आत्मा से होकर भी सामाजिक आवश्यकताओं से सर्वथा निरपेक्ष नहीं है। शताब्दियों तक धर्म हमारे जन-जीवन का वास्तविक अंग रहा है। इसी प्रकार विज्ञान का भौतिक जगत से गहरा सम्वन्ध होते हुए हमारे आचरणों और सामाजिक मर्यादाओं से नाता वना रहा है। आचरणों में परिवर्तन लाने वाला वहुत वड़ा साधन विज्ञान ही है। उपनिषदों में एक से अनेक की ओर प्रेरित करने वाली शक्ति को ही विज्ञान की संज्ञा दी है। अन्धश्रद्धा से धर्म का विकास होता है, यह एक गलत निर्णय है। वास्तविक धर्मोन्नति तो भौतिक जीवन के प्रसंगों

1. आधुनिक विज्ञान और अहिंसा, पृ० ४३

की ठीक-ठीक जानकारी और उनकी उचित-अनुचित स्थिति की समझ से ही सम्भव है। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टाइन तो अपने को धार्मिक कहने में भी संकोच का अनुभव नहीं करते थे। विश्व के इन्द्रजाल पर वे मुग्ध थे। श्री गणेशमुनि जी ने भी धर्म और विज्ञान के पारस्परिक आदान-प्रदान को सहज स्वीकृति देते हुए कहा है—"विज्ञान ने धर्म के वाह्य स्वरूप के अन्वेषण में जो क्रान्तिकारी रूप दिया है—वह मानवशास्त्र और समाजशास्त्र की दृष्टि से अनुपम है। समाजमूलक क्रान्तियों का जो धर्म पर प्रभाव पड़ा है और जो अपेक्षित संशोधन भी करने पड़े हैं, यह सब विज्ञान की ही भौतिक देन है।"[1] इस प्रकार विज्ञान के समुचित उपयोग द्वारा आत्मतत्त्व की भी उचित गवेषणा सम्भव है।

दर्शन : आशय और व्याप्ति

भारतीय संस्कृति का मूल आधार अध्यात्म रहा है। इस अध्यात्म के आन्तरिक और वाह्य तत्त्वों की गम्भीर विवेचना प्राचीन काल से होती आयी है। ऋषि-मुनि, तपस्वी, चिन्तक, विचारक आदि सभी क्षेत्रों के विशिष्ट व्यक्तियों ने भारतीय संस्कृति को सम्पन्न करने में अपनी मेधा का सर्वश्रेष्ठ परिचय दिया है। ज्ञान-विज्ञान और दर्शन के क्षेत्र में भारतवर्ष की उपलब्धि किसी भी अन्य देश की तुलना में महान कही जा सकती है। जीवन और जगत के, प्रकृति और मानव के संश्लिष्ट और गूढ़ प्रश्नों के विश्लेषण और अन्वेषण की दिशा में भारतीय विद्वानों का कार्य अप्रतिम रहा है। लौकिक तथा आध्यात्मिक जगत का शायद ही कोई पक्ष इन आचार्यों की दृष्टि से ओझल रह पाया हो। भारतवर्ष में धर्म और दर्शन की विभिन्न प्रकार की सरितायें प्राचीन काल से प्रवाहित होती आयी हैं। प्रतिभासम्पन्न आचार्य हरिभद्र ने अपने "षड्दर्शन-समुच्चय" में भारतवर्ष में प्रचलित प्रमुख दर्शनों का विवेचन प्रस्तुत किया है। जिसमें वौद्ध, न्याय, सांख्य, जैन, वैशेषिक, जैमिनी तथा चार्वाक दर्शनों की परि-गणना की गई है। इन दर्शनों के अंग-उपांगों की सूक्ष्म विवेचना करके आचार्य हरिभद्र ने प्रत्येक दर्शन को विशिष्टताओं का लेखा-जोखा प्रस्तुत

---

१. आधुनिक विज्ञान और अहिंसा, पृष्ठ ४४

किया है। इन दर्शनों में चार्वाक जैसे भौतिकवादी दर्शन की स्वीकृति देकर आचार्य ने अपनी व्यापक दृष्टि का परिचय दिया है। जीवन के श्रेय और प्रेय पक्षों की सम्यक् जिज्ञासा और उनके यथामति समाधान, इन दर्शनों की बहुत बड़ी देन कही जा सकती।

दर्शन की अब तक सर्वमान्य परिभाषा का निर्धारण नहीं हो सका है। वस्तुतः इस प्रकार के अर्थपूर्ण शब्दों की एकमात्र परिभाषा हो भी नहीं सकती। कुछ परिभाषायें एक विशेष पक्ष पर जोर देकर दूसरे पक्ष को या तो सर्वथा छोड़ देती हैं अथवा उन्हें महत्वहीन करार दे देती हैं। प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक प्लेटो ने दर्शन को सर्वश्रेष्ठ संगीत की संज्ञा दी (Philosophy is the highest music) तो बर्क ने उसे कलाओं की रानी और स्वर्ग की बेटी कहा है (Queen of arts, and daughter of heaven)। इस प्रकार दोनों के मन्तव्य में जमीन-आसमान का अन्तर दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार सभी देशों के चिन्तकों ने दर्शन की भिन्न-भिन्न परिभाषायें निर्मित की हैं। श्री गणेशमुनि शास्त्री का इस सम्बन्ध में अपना अलग विचार है। उनकी दृष्टि में— 'दर्शन मानव-मस्तिष्क की बौद्धिक उपलब्धि है।" दर्शन का सीधा और स्पष्ट अर्थ है दृष्टि, लेकिन एक वह दृष्टि है, जिससे हम प्रत्यक्ष वस्तुओं का अनुभव करते हैं और उनके अवलोकन के पश्चात् उनकी छानबीन करते हैं। यह दृष्टि बाह्य तत्त्वों की विवेचना तक ही सीमित होती है। लेकिन इसके अतिरिक्त एक आन्तरिक दृष्टि भी होती है। इस आंतरिक दृष्टि का विषय विवेक, विचार, चिन्तन होता है। इसके द्वारा हम अत्यन्त सूक्ष्म और अलौकिक विषयों की गवेषणा करने में समर्थ होते हैं। संस्कृत में कहा गया है कि—"इस अनादि-अनन्त संसार में संयोग-वियोग-जन्य सुख-दुःख की अविरल धारा बह रही है। उसमें गोता लगाते-लगाते जब प्राणी थक जाता है, तब वह शाश्वत आनन्द की शोध में निकलता है। वहाँ हेय और उपादेय की मीमांसा होती है। वही दर्शन बन जाता है।" अर्थात् जिस क्षण मानवीय प्रज्ञा जड़ और चेतन, जीवन और जगत के सम्बन्ध में अनुशीलन करने लगती है, उस समय उसके विवेक से जो तत्त्व प्रकट होते हैं, वे ही दर्शन का आकार ग्रहण कर लेते हैं। 'जैन-दर्शन' के लेखक श्री मोहनलाल जी मेहता लिखते हैं कि—"दर्शन जीवन और

जगत अथवा जड़ और चेतन को समझने का प्रयत्न है।" इस प्रकार मुनिजो की परिभाषा में भी दर्शन को एक स्पष्ट आकृति प्राप्त होतो है। जब वे यह कहते हैं कि "तत्त्व का साक्षात्कार करना अथवा उसको उपलब्धि हो दशन है" तो वे दर्शन के मूल स्वरूप का उद्‌घाटन कर देते हैं।

दर्शन : विषय और प्रयोजन

दर्शन का प्रयोजन क्या है? यह प्रश्न भी कम जटिल और दुरूह नहीं है। यूनानो, पश्चिमी और पूर्वो दर्शन सबको एक स्वतन्त्र सत्ता बनी हुई है और सभी दर्शन अलग-अलग प्रयोजनों की सिद्धि का प्रतिपादन करते हैं। यूरोपीय दर्शन का उद्देश्य और उसकी एकमात्र समस्या विश्व को व्याख्यायित करने की है। यूनानी ज्ञानसाधकों तथा उच्चतम विचारकों ने दृश्यमान जगत की विभिन्न व्याख्यायें को हैं। किसी ने मनुष्य के सामाजिक व नैतिक विश्वासों का बौद्धिक मण्डन किया तो किसी ने ईश्वर की धारणा का व्यवस्थित अध्ययन प्रस्तुत किया। श्री गणेशमुनि जी की मान्यता है कि यूरोपीय दर्शन में आत्मा और परमात्मा, जिज्ञासा जैसी कोई वस्तु नहीं है। प्लेटो, अरस्तू जैसे दार्शनिकों में भो आत्मजिज्ञासा की प्रबल अनुभूति नहीं है। लेकिन भारतीय दर्शन का एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व है और उसकी स्वतन्त्र उपलब्धि भी है। इस सन्दर्भ में श्री मुनिजो ने बड़े स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि—"भारतोय दर्शन एक महान उद्देश्य लेकर प्रवृत्त हुआ और वह था जीवन का अन्तिम साध्य—मोक्ष। दर्शन को इसका साधन माना गया। केवल यह ही नहीं, अनेक दर्शनों के अनुसार दर्शन और चिन्तन का प्रचार विषय ही आत्मा और परमात्मा की जिज्ञासा रहा है। उपनिषदों से लगाकर अद्यतन युगीन दार्शनिक मनीषियों ने दर्शन को इसी रूप में व्यवहृत किया है। प्रत्येक दर्शन परम पद का आकांक्षी है। जीव को माया या कर्म के बन्धन से मुक्त कर अमरत्व के अमर पथ की ओर ले जाता है। एक प्रकार से भारतीय दर्शन सक्रिय है और वह मनुष्यमात्र को चिन्तन के साथ सद्‌भावना, सहिष्णुता, सदाचार और नैतिक प्रवृत्तियों की ओर प्रोत्साहित करता है। एक ओर जहाँ वह विश्व की विशाल व्याख्या करता है, वहाँ दूसरी ओर मानवीय

वृत्ति और सामाजिक विकास की ओर भी उत्प्रेरित करता है।"[1] इस प्रकार हम देखते हैं, भारतीय दर्शन केवल बौद्धिक व्यायाम नहीं है, बल्कि सक्रिय जीवनबोध भी है। चिन्तन के लिए चिन्तन करना उसका अभीष्ट नहीं है, बल्कि वह तो जीवन की सक्रिय भूमिका की ओर भी निर्देश करता है। अपनी पुस्तक 'जीवन के अमृत कण' में मुनिजी ने लिखा है कि "दर्शन बौद्धिक व्यायाम नहीं, वह तो जीवन की व्याख्या है, जीवन के सिद्धान्तों का विवेचन है। जो दर्शन केवल बौद्धिक उलझनें खड़ी करके उन्हें सुलझाने में लगा रहकर जीवन के मूल प्रश्नों से बेखबर रहता है, उस पर व्यंग करते हुए एक विदेशी विचारक ने दार्शनिक की परिभाषा लिखी है— "वह अन्धा आदमी, अँधेरे-घुप कमरे में उस काली बिल्ली को खोजने का प्रयत्न करता है, जो वहाँ है ही नहीं।"[2]

दर्शन का विषय बहुत विस्तृत एवं विराट् है। उसको किसी परिधि में सीमित नहीं किया जा सकता है। दार्शनिक विश्व का अध्ययन करते समय प्रत्येक पहलू पर चिन्तन करता है। वह स्वप्नद्रष्टा और त्रिकाल-दर्शी होता है। प्लेटो की दृष्टि में यही उसकी असाधारणता है। दार्शनिक की खोज साधारण खोज से भिन्न होती है। उसके गम्भीर अध्ययन में परिपक्वता होती है। मुनिजी ने दार्शनिक प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि—"जगत के मूल में कौनसा तत्त्व काम करता है ? जीवन का उस तत्त्व के साथ क्या सम्बन्ध है ? आध्यात्मिक और भौतिक तत्त्वों की सत्ता में क्या अन्तर है ? जीव और ब्रह्म के बीच कौनसा तत्त्व बाधक है। वह उनसे भिन्न कैसे हो सकता है ? ज्ञान और बाह्य पदार्थों के बीच क्या सम्बन्ध हो सकता है ? हेय, ज्ञेय और उपादेय का सम्यक् विश्लेषण करना आदि तात्त्विक विषयों की खोज ही दर्शन का प्रमुख समुद्देश्य है।"[3] इस दार्शनिक प्रक्रिया से सिद्ध होता है कि दर्शन का विवेचनक्रम बड़ा ही तर्कसंगत और तलस्पर्शी होता है।

---

१. आधुनिक विज्ञान और अहिंसा, पृष्ठ ४०

२. जीवन के अमृत कण, पृष्ठ ४०

३. आधुनिक विज्ञान और अहिंसा, पृ. १४

दर्शन का उद्‌गमस्थल

दर्शन के आविर्भाव के संबंध में दार्शनिक विद्वानों के विभिन्न दृष्टिकोण रहे हैं। फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि दर्शन के सबसे निकट चिंतन होता है। मानव स्वभाव से चिंतनशील प्राणी है। जहाँ से चिंतन की शुरूआत होती है, वहीं से दर्शन का प्रारम्भ माना जा सकता है। लेकिन चिंतन की प्रक्रिया के जन्म के पीछे भी कुछ निश्चित कारण होते हैं। यह चिंतन चाहे तर्क से उद्‌भूत हो अथवा आश्चर्य, संदेह, बुद्धि और आध्यात्मिकता से प्रेरित हो। तर्क के पूर्व श्रद्धा की स्थिति है। जब श्रद्धा भी कोई आघात बरदाश्त नहीं कर पाती तो तर्क का जन्म लेना स्वाभाविक है। "श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' यह अत्यंत प्राचीन सूक्ति है, अर्थात् ज्ञान की प्राप्ति के हेतु भी श्रद्धा की आवश्यकता होती है। लेकिन श्रद्धा से सभी प्रश्नों का उत्तर मिलना कठिन होता है। बल्कि हम यह कह सकते हैं कि जब तक श्रद्धा होती है, तब तक प्रश्न की कोई सत्ता नहीं होती। प्रश्न का उठना ही श्रद्धा का विगलन है। प्राचीन काल में महापुरुषों की वाणी के समक्ष कोई प्रश्नचिह्न नहीं लगा सकता था। उनके मुख से निसृत प्रत्येक वाक्य वेदवाक्य की तरह से पूजित था। लेकिन युग की परिवर्तनशीलता ही उसका नित्य धर्म है। ज्यों-ज्यों मनुष्य बौद्धिक उपलब्धियों की ओर बढ़ता गया, उसके उर्वर मानस में तर्क के अंकुर लहलहाने लगे। वह सोचने लगा और तब उसकी श्रद्धा को एक हलका-सा आघात लगा। जब श्रद्धा सारी शंकाओं का समाधान न कर सकी, तो तर्क, युक्ति और प्रमाण की खोज की जाने लगी। मनुष्य का मन तर्कप्रधान होता गया और 'किं तत्त्वम्' से उसकी चिंतनयात्रा प्रारम्भ हो गई। कुछ लोगों की दृष्टि में यही दर्शन का उद्‌गम-स्थल है।

पाश्चात्य दार्शनिक इस संबंध में दूसरा निर्णय देते हैं। वे यह मानते हैं कि दर्शन के जन्म के मूल में आश्चर्य की सत्ता है। जब मनुष्य प्रारम्भ में किसी नूतन वस्तु का साक्षात्कार करता है, तब वह विस्मय में पड़ जाता है और अपने विस्मय को शांत करने के लिये जिज्ञासा, चिंतन और कल्पना का सहारा लेता है। धीरे-धीरे उसकी कल्पनाएँ दर्शन का आधार प्रस्तुत

कर देती हैं । इस प्रकार आश्चर्य से प्रारम्भ हुई यात्रा का अंत दर्शन में हो जाता है ।

इसी प्रकार कुछ विचारकों का मंतव्य है कि आश्चर्य की अपेक्षा दर्शन की उत्पत्ति संदेह से हुई है । जब-जब मनुष्य को अपने विषय में अथवा इस भौतिक जगत् के विषय में संदेह होता है, तब-तब उसकी विचारधारा दर्शन की शरण लेती है ।

कुछ विचारकों ने दर्शन की उत्पत्ति आध्यात्मिकता को लेकर उसे केन्द्रबिंदु बनाया है । मुनिजी ने इस विचारधारा का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि—"आध्यात्मिक प्रेरणा का प्रमुख आधार है वर्तमान से असंतोष और भविष्य की उज्ज्वलता का दर्शन । यही भारतीय परम्परा में दर्शन की आधार-भूमि रही है ।"[1] इसी प्रकार कुछ लोग दर्शन की उत्पत्ति में भौतिक जीवन के दुःखों को भी अत्यधिक महत्व देते हैं । दुःख से घबड़ाकर प्राणी दर्शन की शरण में शांति का अनुभव करता है ।

ऐसा प्रतीत होता है कि श्री गणेशमुनिजी दर्शन की उत्पत्ति में "उदग्र जिज्ञासा वृत्ति" को ही सर्वाधिक महत्व देते हैं । जैन श्रुत-साहित्य के निर्माण में भगवान महावीर के प्रमुख गणधर इंद्रभूति गौतम की उदग्र जिज्ञासा हो मूल कारण रही है । महावीर और गौतम के संवाद जैन-दर्शन के मूलाधार हैं । जानने की इच्छा, संशय, कौतूहल से अभिप्रेरित होकर गौतम भगवान महावीर के निकट कुछ प्रश्नों को लेकर जाते हैं और वहीं से जैन-दर्शनशास्त्र के अनेक अध्याय लिखे जाते हैं । उपनिषदों में भी ऐसी अनेक कथायें संग्रहीत हैं, जिनमें जिज्ञासा-तत्त्व मुखरित हो रहा है । कठोपनिषद् का यम एवं नचिकेता का संवाद तो दर्शनशास्त्र का महत्वपूर्ण संवाद माना जाता है । दर्शनशास्त्र के इतिहासकारों ने भगवान महावीर एवं तथागत बुद्ध की कठोर साधना के मूल में आत्म-जिज्ञासा के भाव ही दर्शाये हैं । मैं कौन था ? मेरा क्या स्वरूप है ? यहाँ से आगे कहाँ जाऊँगा ? ये जटिल प्रश्न ही मानव आत्मा को आत्मशोध की ओर उन्मुख करते हैं । अश्वघोष ने 'बुद्धचरित' में तथागत बुद्ध से

१. आधुनिक विज्ञान और अहिंसा, पृ १६

स्पष्ट प्रतिज्ञा करवायी है कि—"जब तक मैं जन्म-मरण के किनारे का पता नहीं पा लूँगा, तब तक कपिलवस्तु में प्रवेश नहीं करूँगा।" इन सब उदाहरणों से सिद्ध होता है कि दर्शन के मूल में किसी-न-किसी प्रकार की जिज्ञासा का होना नितांत आवश्यक है। मुनिजी ने सारांश रूप में लिखा है—"आश्चर्य, जिज्ञासा, संशय, कुतूहल ये सब मनुष्य को दर्शन की ओर उन्मुख करते रहे हैं। ठेठ वैदिक काल से लेकर पश्चिमी दर्शन के उद्भव तक यही "बौद्धिक कौतूहल" मनुष्य को ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में आगे-से-आगे बढ़ाता आया है।"[1]

दर्शन और विज्ञान

आज के भौतिकवादी युग के सबसे प्रबल आकर्षण के रूप में विज्ञान की सत्ता प्रतिष्ठित है। इसका प्रमुख कारण यह है कि विज्ञान का क्षेत्र बाह्य और दृश्यमान जगत है। दर्शन का झुकाव प्रमुखतः आत्म-जगत तथा आध्यात्मिकता की ओर होता है। मनुष्य जितनी जल्दी बाह्य जगत की ओर आकर्षित होता है, उतनी जल्दी आंतरिक जगत की ओर नहीं, लेकिन जैसा कि श्री गणेशमुनिजी ने लिखा है—दर्शन और विज्ञान दोनों का अन्तिम साध्य सत्य की खोज ही है। यह बात अवश्य है कि दोनों की खोज की प्रक्रिया में भिन्नता परिलक्षित होती है। विज्ञान किसी भी सिद्धांत या विचार को तब तक स्वीकार नहीं करता, जब तक कि उसकी सत्यता प्रायोगिक स्तर पर उद्घाटित नहीं हो जाती अर्थात् वैज्ञानिक प्रक्रिया में सिद्धांतपक्ष और व्यवहारपक्ष दोनों की महत्ता स्वयंसिद्ध है।

लेकिन दर्शन का क्षेत्र भावजगत है, वह दृश्य और अदृश्य दोनों ही जगत का पर्यवेक्षण करता है, बल्कि कह सकते हैं कि उसके लिये दृश्य की अपेक्षा अदृश्य जगत ही ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। दूसरी बात यह है कि दर्शन का कोई प्रायोगिक स्वरूप नहीं होता, वह शुद्ध विचारजगत की वस्तु है।

श्री गणेशमुनिजी ने दर्शन और विज्ञान के मध्य पार्थक्य दर्शाते हुए लिखा है कि—'दर्शन आत्मतत्त्व प्रधान है और विज्ञान भौतिक सत्य-प्रधान है। दर्शन आत्मा, परमात्मा पर गम्भीर चिंतन प्रदान करता है

---

१. इन्द्रभूति गौतम : एक अनुशीलन, पृ १०६

और विज्ञान वाह्य तत्त्वों पर अपने मौलिक विचार अभिव्यक्त करता है। दर्शन विश्व को एक संपूर्ण तत्त्व समझकर उसका परिज्ञान कराता है और विज्ञान जगत के पृथक्-पृथक् पहलुओं का भिन्न-भिन्न दिग्दर्शन कराता है। दर्शन युक्ति और अनुभव को महत्त्व देता है तो विज्ञान युक्ति को ठुकराकर केवल अनुभव को प्रधानता देता है।"[1] विज्ञान में खोज की प्रक्रिया शाश्वत होती है अर्थात् उसका कोई भी अंतिम निर्णय नहीं होता। उदाहरण के लिये एक वैज्ञानिक की सत्य वात दूसरे वैज्ञानिक के लिये असत्य भी हो सकती है। न्यूटन के सिद्धांत को आइन्स्टाइन चुनौती दे सकते हैं, तो आइ-न्स्टाइन के सिद्धांत को भविष्य का कोई अन्य वैज्ञानिक भी प्रश्नचिह्नित कर सकता है। जो वात कोपरनिकस के लिये सत्य हो सकती थी, वही वात आइन्स्टाइन के लिये भी हो, यह जरूरी नहीं है। आज से कुछ समय पूर्व चन्द्र और मंगल ग्रह की यात्रा संदिग्ध-सी लगती थी, किंतु आज राकेट एवं स्पुतनिक युग ने इन यात्राओं को संभव कर दिखाया है। इसलिये हम कह सकते हैं कि विज्ञान का निर्णय हमेशा अधूरा और अपूर्ण रहता है और उसमें परिष्कार तथा परिमार्जन की संभावना निरंतर वनी रहती है।

दर्शन के क्षेत्र में इससे स्थिति थोड़ी-सी भिन्न होती है। वहाँ भी मत-मतांतर की संभावना वनी रहती है। एक दार्शनिक अपने से पहले के दार्शनिक का खंडन कर सकता है, किन्तु प्रयोग के स्तर पर अपने सिद्धांत का प्रतिपादन करना काफी कठिन होता है।

दर्शन और विज्ञान का जीवन में अपना एक स्वतंत्र महत्व है। दोनों की जीवन में पूर्ण उपयोगिता है। मानव-सभ्यता के विकास में दोनों का योगदान विशिष्ट है। दर्शनशास्त्र भी आत्मा के सुख और शांति का ही मार्ग वतलाते हैं। विज्ञान भौतिक साधनों की उन्नति के द्वारा जीवन को अधिक सुविधापूर्ण वनाना चाहता है। इसीलिये मुनिजी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि दर्शन और विज्ञान में संपूर्ण जीवन की व्यापकता समाहित है। विज्ञान और दर्शन में काफी अन्तर है, फिर भी दोनों के समन्वय से ही जीवन की परिभाषा पूर्ण हो सकती है।

---

१. आधुनिक विज्ञान और अहिंसा, पृ० २१

कुछ माने में विज्ञान की स्थिति दर्शन से विशिष्ट भी है। दर्शन का आधार धर्मशास्त्र है और उसमें कहीं-कहीं अंधविश्वासों को भी अवकाश मिल गया है, किन्तु विज्ञान किसी भी आश्चर्यजनक घटना को ईश्वरीय अथवा प्राकृतिक न मानकर उसके कारणों की शोध करता है। दार्शनिक जगत में महान पुरुषों की बातों को चुनौती देना बहुत न्यायसंगत नहीं माना जाता। कहीं-कहीं उनके सिद्धांतों के प्रति शंका प्रकट करने के कार्य को नास्तिकता की संज्ञा दी जाती है। लेकिन विज्ञान के क्षेत्र में निरंतर शोध तथा अन्वेषण को महत्त्व दिया जाता है। प्रत्येक सिद्धांत की परीक्षा, चाहे वह कितना भी पुराना और प्रतिष्ठित सिद्धांत क्यों न हो, प्रयोग के स्तर पर की जा सकती है। वहाँ पुरातनता की अपेक्षा नूतनता को महत्त्व दिया जाता है। मुनिजी ने दर्शन से विज्ञान की भिन्नता को उद्घाटित करते हुए यह निष्कर्ष दिया है—"दर्शन चिंतन-प्रधान है और विज्ञान कार्य-प्रधान। दर्शन वस्तु-विश्लेषक है तो विज्ञान उसे प्रत्यक्ष कर दिखाने की क्षमता रखता है। दर्शन की अनेक शाखायें केवल धर्म और अध्यात्म तक सीमित हैं, पर विज्ञान की शक्ति मानवजीवन के संपूर्ण अंगों को स्पर्श करती है। दर्शन तर्क और अनुमानों पर आधृत है तो विज्ञान प्रत्यक्ष व्यवहार पर।"[1]



१. आधुनिक विज्ञान और अहिंसा, पृ० २५-२६

अध्याय ५

गद्य के सोपान

आज से कई सौ वर्ष पूर्व जब मध्यकालीन जड़ता को चुनौती देते हुए कबीर ने कहा था—"जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिए ज्ञान", तो एक तरफ जहाँ वे ज्ञान को सर्वोपरि ठहरा रहे थे, वहीं दूसरी तरफ जाति और धर्मगत पाखण्डों पर उनका क्षोभ भी प्रगट हो रहा था। भारतीय धर्म-साधना में जाति और धर्म की निस्सारता का प्रतिपादन करते हुए ज्ञान की निर्मल पीयूषधारा का अवगाहन निरन्तर होता रहा है। महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भारतीय वसुन्धरा को 'महामानवों का समुद्र'-बतलाते हुए इसकी समन्वयवादी प्रवृत्ति को सराहा था। लेकिन जाति, धर्म, वर्ण-व्यवस्था की काई ने ज्ञान की सरस्वती को कई बार आच्छादित करने का प्रयास किया है। हम जब कभी किसी ज्ञानी साधक अथवा महात्मा की बात करते हैं, हमारा पहला आकर्षण उसकी जाति और धार्मिक परम्परा के प्रति उत्पन्न हो जाता है। सच्चे ज्ञानी और साधु-पुरुष इन संकीर्णताओं का प्रतिवाद करते हुए अपनी साधना के आलोक को विकीर्ण करते हैं। आर्य, जैन, बौद्ध, द्रविड़ जैसी अनेक संस्कृतियाँ तथा चिन्तन-परम्परायें समग्र रूप से भारतीय संस्कृति के निर्माण में अभूतपूर्व योगदान करती आई हैं। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम जाति, धर्म एवं संस्कृति को एक विस्तृत आयाम देते हुए उन सारभूत विचार-रत्नों का संग्रह करें जो क्षुद्र सीमाओं की चौहद्दी में घिरकर हमारे जन-मानस से दूर चले गये हैं। वास्तविक और महत्त्वपूर्ण आदर्शों को चाहे वे किसी भी जाति अथवा धर्म-परम्परा के अंग हों, स्वीकार करके ही हम अपनी प्रज्ञा और हार्दिक भाव-राशि को सम्पन्न कर सकते हैं। इस दृष्टि से जब हम श्री गणेशमुनिजी शास्त्री के चिन्तन एवं व्यक्तित्व का मूल्यांकन करते हैं तो हमें इस बात से सुखद

आश्चर्य होता है कि उनका कृतित्व व्यापक मानव-धर्म की स्थापना और व्याख्या से सम्पृक्त है, किसी विशिष्ट धर्म की रूढ़िग्रस्त परम्पराओं से नहीं।

श्री गणेश मुनिजी शास्त्री जैन श्रमण-परम्परा के एक शुभ्र नक्षत्र हैं। साधना और रचनात्मक प्रतिभा का सुन्दर समन्वय उनके गरिमामय व्यक्तित्व का सर्वोपरि आकर्षण है। शुभ्र परिधान से आच्छादित उनकी प्रशस्त एवं तेजपूर्ण आकृति जन-मानस को प्रथम दृष्टि में ही अभिभूत कर लेती है। साधना की कठोर शिला पर आसीन होकर भी उन्होंने हृदय की कोमलतम अनुभूतियों का साक्षात्कार किया है। चिन्तन की प्रखर आभा ने उनके व्यक्तित्व को समृद्ध किया है और अनुभूति-प्रवण हार्दिकता ने उनके कवि-मानस का शृंगार किया है। सुयोग्य गुरु के सम्पर्क में रहकर उन्होंने जहाँ साधना की जटिल और गूढ़तम प्रक्रिया को आत्मसात किया है, वहीं मानवीय क्षमता का सौन्दर्य-पक्ष विकसित करके काव्य-उपवन में विहार किया है। एक अध्ययनशील सन्त, प्रखर विचारक, सफल लेखक, निर्भीक और सुस्पष्ट वक्ता तथा कोमल अनुभूतियों के गायक के रूप में मुनिजी का व्यक्तित्व महिमामण्डित है। साधना की कठोरता ने उनके संवेदनशील हृदय को आहत नहीं किया है, बल्कि भावराशि को अधिक सूक्ष्म बनाया है। मुनिजी ने अपने भाव-प्रवण प्रवचनों से जहाँ असंख्य नर-नारी समाज को जैन-दर्शन की सूक्ष्मताओं तथा विशिष्टताओं से परिचित कराया है, वहीं अपनी समृद्ध लेखनी से ऐसी यशस्वी कृतियों की रचना की है, जो भावी श्रमण-परम्परा को सुस्पष्ट मार्ग-निर्देशन करेंगी। दर्शन और अध्यात्म की रहस्यमयी विचारधारा की व्याख्या करते हुए उन्होंने मानव-कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया है। सरसता और कोमलता उनके व्यक्तित्व की दो महान् विभूतियाँ हैं, जिनसे उनका कृतित्व भी शोभा-सम्पन्न है। जिज्ञासुओं तथा योग्य शिष्यों से निरन्तर घिरे रहकर भी उन्होंने अपनी साधना को व्यवस्थित और मांगलिक रूप दिया है। तपश्चर्या और भाव-जगत का स्पन्दन एक विरल संयोग है, जिसकी उपस्थिति मुनिजी के व्यक्तित्व को आकर्षक और प्रभावशाली बनाती है। स्वभाव से मृदु, मिलनसार और तपोमूर्ति मुनिजी का चरित्र

जन समाज के लिए तो प्रेरणा का स्रोत ही है। सांसारिक वासना और वैभव को ठुकराकर आध्यात्मिक साधना के प्रति आकृष्ट होकर श्रमण-संघीय श्रद्धेय मुनि श्री पुष्कर मुनिजी महाराज के निकट मुनि दीक्षा ग्रहण कर उन्होंने साधना का पथ आलोकित किया है। अध्ययन एवं अनुभव से सम्पन्न उनका साहित्यिक कार्य विद्वत्ता और सूक्ष्म-तत्त्व-ग्राहिणी प्रतिभा का नया मानदण्ड प्रस्तुत करता है। उनके विचारशील मस्तिष्क में ज्ञान-विज्ञान की अनेक तरंगें निरन्तर प्रवाहित होती रहती हैं। भाव-ऊर्मियाँ जब सघन अनुभूतियों का सम्पर्क पा जाती हैं तो अभिव्यंजना की नूतन प्रणाली का सूत्रपात कर लेती हैं। ललित-काव्य की सुकोमल वाटिका में विहार करते हुए मुनिश्री शुष्क गद्य को भी अपनी प्रतिभा से नया रूप दे देते हैं। तुकान्त-अतुकान्त सभी प्रकार की छन्द-सरणियों में निर्भीकता से विचरण करते हुए वे काव्य की आत्मा को उजागर करने की अद्भुत क्षमता रखते हैं। निबन्धकार और प्रतिभा-सम्पन्न कवि होने के साथ-साथ वे गद्य-काव्य के रचना कौशल को भी हृदयंगम कर लेते हैं। उनकी काव्य-चेतना बहुमुखी है। प्रगीतात्मक एवं प्रबन्धात्मक दोनों ही तत्त्वों की एकत्र उपस्थिति इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है। मुनिजी की अध्ययन के प्रति जागरूकता का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है कि उन्होंने अल्प-समय में ही संस्कृत, प्राकृत एवं हिन्दी भाषा का व्यवस्थित अध्ययन पूर्ण कर लिया है। "स्वाध्यायान् मा प्रमदः" यही उनके जीवन का निकष है और इसी मार्ग पर चलकर उन्होंने भारतीय-संस्कृति और जीवन-विधायक तत्त्वों का सूक्ष्म परीक्षण किया है। आधुनिक युग की भौतिकवादी दृष्टि से यथा सम्भव असम्पृक्त रहकर उन्होंने आदर्शों की उस नक्षत्रमालिका का निर्माण किया है, जिससे किसी भी जीवनयात्री का पथ आलोकित हो सकता है। मुनिजी आधुनिक और पुरातन दोनों ही विषयों के मर्मज्ञ विद्वान हैं। अपनी पर्यवेक्षण शक्ति के द्वारा उन्होंने जीवन के शाश्वत प्रश्नों की अभूतपूर्व व्याख्या की है, साथ ही विज्ञान की चरम उपलब्धियों के सन्दर्भ में जीवन की आधुनिकता का विश्लेषण किया है। उनका कृतित्व जैन मुनियों के द्वारा तो सम्मानित है ही, भारत के सुधी-विद्वानों द्वारा भी

उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है। यों तो प्रतिभा को किसी के भी प्रमाण-पत्र की आवश्यकता नहीं होती, फिर भी प्रतिभा का स्फुलिंग मूल्यांकन की कसौटी पर चढ़कर और अधिक प्रकाशपूर्ण बनता है। मुनिजी के कृतित्व का सर्वाङ्गीण परिचय एक लघु-निबन्ध की सीमा में नहीं समेटा जा सकता, फिर भी उनकी रचनात्मक शक्ति की विशिष्टता के प्रमुख सोपानों का अवगाहन नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

"आधुनिक विज्ञान और अहिंसा"—श्री गणेश मुनिजी 'शास्त्री' के समन्वित चिन्तन का प्रथम प्रकाश है। मुनि कान्तिसागर के शब्दों में—"अहिंसा भारतीय संस्कृति की आत्मा है। वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन का शाश्वत विकास अहिंसा की सफल साधना पर ही अवलम्बित है।" अहिंसा को इसी व्यापक परिप्रेक्ष्य में रखकर श्री गणेश-मुनिजी ने व्याख्यायित किया है। मुनिजी की तत्त्वाभिनिवेशी प्रतिभा ने आधुनिक युग की जटिल समस्याओं पर प्रकाश डालते हुए धर्म, अहिंसा और दर्शन का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया है। अहिंसा के सन्दर्भ में विचार करते हुए मुनिश्री की यह स्पष्ट मान्यता है—"अहिंसा मानवीय व्यवस्थित जीवनपद्धति का आलोकपूर्ण पथ है।···मानव में ऋजुता उत्पन्न कर समत्व की साधना की ओर संकेत कर प्राणिमात्र का सर्वोदय ही इसका मुख्य लक्ष्य है।" इस कृति में लेखक ने भारतीय संस्कृति में विभिन्न दर्शनों के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए विज्ञान और दर्शन का समन्वय प्रस्तुत किया है। आणविक अस्त्र-प्रयोगों की विभीषिका की ओर संकेत करके मुनिजी ने अणुपरीक्षण-प्रतिबन्ध तथा निःशस्त्रीकरण की आवश्यकता का प्रतिपादन किया है। आधुनिक विज्ञान का रचनात्मक उपयोग तभी सम्भव है, जब विज्ञान पर अहिंसा का वरदहस्त होगा। मुनिश्री की इस मान्यता के सन्दर्भ में हमें सुकवि दिनकर की निम्नलिखित पंक्तियों का अनायास स्मरण हो रहा है—

"श्रेय वह विज्ञान का वरदान।
हो सुलभ सब को सहज जिसका रुचिर अवदान।
श्रेय वह नर-बुद्धि का शिवरूप आविष्कार।
ढो सके जिससे प्रकृति सबके सुखों का भार।"

(कुरुक्षेत्र, षष्ठ सर्ग)

"अहिंसा की सार्वभौम शक्ति" तथा "सामूहिक अहिंसा के अभिनव-प्रयोग" शीर्षक अध्याय मुनिजी के सन्तुलित चिन्तन के अनुपमेय उदाहरण हैं। युग की जटिल समस्याओं के समाधान हेतु मुनिजी का यह प्रयास स्तुत्य है। पुस्तक की भाषा-शैली अत्यन्त प्राञ्जल और सुष्ठु बन पड़ी है। चिन्तन की प्रखरता तथा विश्लेषण की क्षमता तो इस पुस्तक के आभूषण हैं।

"अहिंसा की बोलती मीनारें"—मुनिजी के अहिंसा-विषयक चिन्तन का पूर्व स्फुटित पुष्प है। अपनी प्रथम कृति की विचार-यात्रा को आगे बढ़ाकर लेखक ने अहिंसा की व्यावहारिक पृष्ठभूमि को स्पर्श करते हुए उसके विभिन्न अंगों का विशद विवेचन किया है। सुप्रसिद्ध गांधीवादी विचारक और लेखक श्री यशपाल जैन के अनुसार, "यह पुस्तक अहिंसा की महिमा और उसके व्यावहारिक पक्ष पर सुपाठ्य सामग्री प्रदान करती है।" शास्त्रीय जटिलता से मुक्त होकर लेखक ने अपनी स्वच्छन्द शैली में अहिंसा के आधारभूत सिद्धान्तों का सरल भाषा में विवेचन किया है। रचनाकार ने अहिंसा को अत्यन्त व्यापक स्तर पर ग्रहण करते हुए यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है, "अहिंसा" एक तीन वर्ण का छोटा-सा शब्द है, किन्तु यह विष्णु के तीन चरण से भी अधिक विराट् व व्यापक है। मानव-जाति ही नहीं, किन्तु समस्त चर-अचर प्राणिजगत इन तीन चरणों में समाया हुआ है। जहाँ अहिंसा है, वहाँ जीवन है, जहाँ अहिंसा का अभाव है, वहाँ जीवन का अभाव है।" शोषित और उत्पीड़ित मानवजाति जो वर्गभेद, वर्णभेद, प्रान्तीयता, जातीयता, धार्मिक कलह तथा आर्थिक शोषण से सन्त्रस्त है, के लिए मुनिजी ने करुणा, दया, अपरिग्रह तथा अनेकान्तवाद के मंगल सन्देश सुनाये हैं। भगवान महावीर तथा तथागत बुद्ध के सूत्रों की मार्मिक विवेचना करके लेखक ने अपनी सार-ग्राहिणी प्रतिभा का उचित परिचय दिया है। लेखक की दृष्टि में करुणा, अनेकान्त, अपरिग्रह, शोपणमुक्ति, सह-अस्तित्व, निःशस्त्रीकरण, शाकाहार एवं विश्वशान्ति, ये सब अहिंसा की स्वतन्त्र मीनारें हैं, जिनसे ध्वनित होने वाले संगीत की आज के प्राणि-समाज को महती आवश्यकता है। आधुनिक-

युग में महात्मा गांधी और जवाहरलाल नेहरू जैसे मनस्वी युग-निर्माताओं ने भी अहिंसा और विश्व-शान्ति का मार्ग प्रशस्त किया है। विभिन्न मतों में अहिंसा का निरूपण भले ही भिन्न-भिन्न प्रणालियों से हुआ हो, किन्तु लेखक की दृढ़ मान्यता है कि सब के लक्ष्य तथा आदर्श एक ही हैं। जैन-धर्म ने अहिंसा का जितना व्यापक रूप स्वीकार किया, उतना अन्य किसी धर्म ने भले ही न किया हो, लेकिन सभी धर्म अहिंसा की महत्ता से सुपरिचित हैं। आज मानव-समाज की आस्थायें विचलित हो रही हैं, आणविक युद्ध की भीषण पुकार उसके घर के दरवाजे को रोज खटखटा रही है। ऐसी स्थिति में अहिंसा का स्वस्थ और प्रेरक रूप ही उसे शान्ति का मार्ग दिखा सकता है। लेखक ने जैनधर्मेतर मतावलम्बियों के आदर्शों को स्वीकार करने में भी किसी प्रकार की कृपणता नहीं दिखाई है। अहिंसा की साधना अपरिग्रह की ही साधना है।

पुस्तक में व्यक्त विचारधारा लेखक की निर्मल और मानवतावादी दृष्टि का सुन्दर परिचय देती है। भारतीय साहित्य में अहिंसा पर सरल ढंग से प्रकाश डालने वाली ऐसी पुस्तकों की संख्या बहुत कम है। लेखक ने अत्यन्त सुन्दर ढंग से अपनी विचारधारा को संवेदनशील मस्तिष्क तक पहुँचाया है। शैली के निखार तथा भाषा की सम्प्रेषण क्षमता से यह पुस्तक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बन गई है।

'इन्द्रभूति गौतम : एक अनुशीलन'—मुनिजी की गवेषणात्मक प्रतिभा का सुन्दर प्रकाशन इस रचना में हुआ है। जैन-परम्परा के श्रेष्ठतम साधक गणधर इन्द्रभूति गौतम का व्यक्तित्व सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण, गौरवशाली एवं विराट् है। आगम-साहित्य का अधिकांश इन्द्रभूति गौतम की जिज्ञासा और भगवान महावीर के समाधान से निर्मित है। पच्चीस-सौ वर्ष पूर्व के इस महान व्यक्तित्व को मुनिजी ने बड़ी प्रामाणिकता एवं वैचारिक गरिमा के साथ प्रस्तुत किया है। जैन श्रमण-परम्परा में ख्यातिलब्ध विद्वान उपाध्याय अमर मुनिजी ने इस पुस्तक की अनुशंसा करते हुए लिखा है—"यद्यपि ऐसे असाधारण व कालातीत व्यक्तित्व का आकलन शब्दातीत होता है, फिर भी उसे शब्दानुगम्य बनाने का प्रयत्न युग-युग से होता रहा है। प्रस्तुत कृति में लेखक एवं सम्पादक ने इन्द्रभूति के उस महामहिम शब्दातीत रूप को शब्द-गम्य बनाने का स्तुत्य प्रयत्न किया है।"

जैन, वौद्ध एवं ब्राह्मण ग्रन्थों के आलोड़न से उन्होंने जिस महापुरुष को वैचारिक श्रद्धाञ्जलि दी है, वह जैन-साहित्य की महत्त्वपूर्ण अनुसन्धानात्मक रचना है। यहाँ मुनिजी ने अपनी भावयित्री प्रतिभा के साथ कारयित्री रचना-दृष्टि का मणिकांचन संयोग उपस्थित किया है। दर्शन की गम्भीर समस्याओं की सरल किन्तु प्रामाणिक व्याख्या करते हुए गणेशमुनिजी ने गौतम के व्यक्तित्व के अन्तरतम को बड़ी सूक्ष्मता तथा सरलता के साथ उभार कर रखा है। अनुसन्धानपूर्ण कार्य करने में जिस अप्रतिहत श्रम एवं निष्पक्ष और तटस्थ दृष्टि की आवश्यकता होती है, उसका अत्यन्त सुन्दर निदर्शन इस कृति में प्रस्तुत है। यह रचना पाँच खण्डों में विभक्त है, जिनमें भारतीय चिन्तन की पृष्ठभूमि देकर गौतम की आत्म-विचारणा तथा भगवान महावीर स्वामी से उनके परिसंवाद की विस्तृत भूमिका प्रस्तुत की गई है। लेखक ने अत्यन्त विनम्रता के साथ अपने कार्य की परिसीमा को रेखांकित करते हुए कहा भी है—"गौतम के व्यक्तित्व का सार्वदेशिक सूक्ष्म चित्रण करने के लिए जैनवाङ्मय के प्रत्येक आगम एवं प्रत्येक ग्रन्थ का आलोड़न, अवगाहन करना आवश्यक है। इस महान कार्य की सम्पन्नता किसी एक लेखक के द्वारा सम्भव नहीं है, तथापि हमने प्रयत्नपूर्वक विविध ग्रन्थों का अवलोकन एव अनुशीलन करके आज तक के वहुत वड़े अभाव की पूर्ति करने का प्रयत्न किया है।"

इस कृति में लेखक की मौलिक गवेषणा-दृष्टि अत्यन्त समृद्ध रूप से उपस्थित है। पुस्तक में दर्शन के गम्भीर प्रश्न भी बड़ी रोचकता एवं प्रभावपूर्ण शैली में उभारे गये हैं। लेखक की अनुसन्धित्सु दृष्टि ने इन्द्रभूति गौतम के व्यक्तित्व के सभी महत्त्वपूर्ण आयामों का स्पर्श करके जैन-साहित्य का भण्डार भरा है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

भगवान महावीर के हजार उपदेश—श्री गणेश मुनि द्वारा सम्पादित तथा अनुदित यह ग्रन्थ जैन आगम साहित्य की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। भगवान महावीर की २५०० वीं निर्वाण शताब्दी के शुभ अवसर पर प्रकाशित यह कृति एक सहस्र सुभाषित रत्नों से आपूरित है जिनकी प्रेरणा एवं प्रकाश से जीवन-पथ आलोकित हो सकता है। जैन-साहित्य

एवं दर्शन के शीर्षस्थ विद्वान श्री उपाध्याय अमरमुनि ने इस रचना को प्रस्तावित करते हुए लिखा है—"वर्तमान जन-जीवन में जो कुंठायें हैं, द्वन्द्वात्मक स्थितियाँ हैं, नीति-अनीति के संघर्ष हैं, उनमें यह सुभाषित-संग्रह आज भी एक प्रेरणा व ज्योति प्रदान करेगा। जन-जीवन के निर्माण में मानसिक शान्ति एवं समता की उपलब्धि में यह संग्रह काफी सहायक सिद्ध हो सकता है।"

यह रचना तीन खण्डों एवं छप्पन उपशीर्षकों में एक हजार सदुपदेशों का सुन्दर संकलन प्रस्तुत करती है। महान पुरुषों तथा जन-नेताओं की वाणी में यह सामर्थ्य होता है कि वह भूत, वर्तमान और भविष्य की काल परिधियों का अतिक्रमण करती हुई सतत मानव-चेतना को उद्‌बुद्ध करती है और मानवीय गरिमा तथा विवेक की पुनर्स्थापना करती है। गौतम तथा महावीर भारतीय संस्कृति के ऐसे ही जाज्वल्यमान रत्न हैं जिन्होंने ऊर्द्ध्ववाहु होकर युगीन परिवेश की रूढ़िवादिता को चुनौती दी और मनुष्य के संकल्प तथा आस्था को सम्बोधित किया। वेदों और उपनिषदों की जटिलता से संघर्ष करते हुए इन धर्मोपदेशकों ने उन म्रियमाण परम्पराओं की भर्त्सना की जो मानवीय सत्ता को अबूझ पहेली बनाकर किसी अलौकिक तथा अतीन्द्रिय जगत की व्याख्या कर रही थीं अथवा धर्म के राजमार्ग को कण्टकाकीर्ण करती हुई संकीर्ण वीथियों में भटकने का अनपेक्षित प्रयास कर रही थीं। धर्म के चेहरे को पाखण्ड और विडम्बना की दुहरी मार से बचाते हुए इन नेताओं ने मनुष्य के कर्मों की सहज व्याख्या की और मानवीय गरिमा के स्रोत को उद्‌भासित किया।

प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रथम खण्ड 'धर्म और दर्शन' के विभिन्न आयामों को समेटता हुआ अठारह उपशीर्षकों में विभक्त है जिनमें अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, ज्ञान, श्रद्धा, तप, साधना, आत्मा आदि विषयों के सम्बन्ध में भगवान महावीर के दुर्लभ कथन संकलित हैं। वैसे तो यह सारे विषय इतने गूढ़ हैं कि इनमें से प्रत्येक पर स्वतन्त्र कृतियों की रचना हुई है, किन्तु लेखक ने अपनी प्रज्ञा का सूक्ष्म परिचय देते हुए इन विषयों के सम्बन्ध में

कही गयी अत्यन्त सार्थक और महत्त्वपूर्ण उक्तियों का संग्रह किया है। आत्मा के सम्बन्ध में वड़ी जटिल मान्यताओं का साक्षात्कार मनुष्य को करना पड़ा है, किन्तु इस पुस्तक में संकलित महावीर-वाणी की सहजता देखिये—

पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं,
किं वहिया मित्तमिच्छसि।

(पुरुष ! तू स्वयं ही अपना मित्र है। फिर वाहर में क्यों किसी मित्र की खोज कर रहा है ?)

इसी प्रकार मोक्ष के सम्बन्ध में वड़ी सुन्दर उक्ति है :—

वन्धप्पमोखो तुज्झज्झत्थेव।

(वन्धन से मुक्त होना तुम्हारे ही हाथ में है।)

'जीवन और कला' शीर्षक के अन्तर्गत दूसरे खण्ड में तेइस विषयों को सम्पादकीय प्रतिभा का स्पर्श मिला है। जिनमें विनय, वैराग्य, संयम, सदाचार, कर्मवाद, माया, मोह आदि प्रमुख हैं। ये विषय भी कम विवादास्पद नहीं हैं—विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों और दार्शनिक मान्यताओं में इनकी निजी तथा सर्वथा अलग व्याख्यायें प्राप्त होती हैं, जो कभी-कभी परस्पर विरोधी भी दिखाई पड़ती हैं। किन्तु यहाँ संकलनकर्त्ता का मूल उद्देश्य यह रहा है कि जैन आगमों में इन विषयों पर प्राप्त प्रामाणिक कथनों को सरलता से व्याख्यायित करते हुए जन-मन तक अपनी वात पहुँचायी जाये। इसका यह अर्थ नहीं है कि जैन आगमों में इन विषयों पर इतना ही कहा गया है, वल्कि उस विस्तृत भाव-सागर से गणेश मुनिजी ने किंचित् अमूल्य रत्नों को निकाल लिया है। सामान्य जीवन में इन आदर्शों की आवश्यकता सन्देह से परे है, अतः विद्वान सम्पादक ने इस खण्ड के अन्तर्गत विखरे हुए सूक्ति-प्रवाह को तट की मर्यादा दे दी है।

इस रचना का तीसरा और अन्तिम खण्ड 'शिक्षा और व्यवहार' शीर्षक के अन्तर्गत सम्पादित होकर जीवन के व्यावहारिक पक्ष को उजागर करता है। यदि प्रथम और द्वितीय खण्ड में मुनिजी ने दार्शनिक और

सैद्धान्तिक समस्याओं की जटिलता को सरल बनाकर प्रस्तुत किया है तो इस खण्ड में उनका ध्यान पूर्णतः दैनिक जीवन की व्यावहारिक मान्यताओं पर केन्द्रित है। कभी-कभी समाज में ऐसे व्यक्ति दिखलाई पड़ते हैं जो सैद्धान्तिक प्रश्नों की महत्ता को तो आत्मसात् किये रहते हैं किन्तु उनके जीवन का व्यावहारिक पक्ष एकांगी और अधूरा रह जाता है। प्रत्येक दर्शन और विचारधारा की स्थूल कसौटी जीवन की समस्याओं का अविकल समाधान ढूँढ़ना है। सिद्धान्त पक्ष यदि व्यावहारिक जगत में सफल नहीं दिखाई पड़ता तो लोग उन सिद्धान्तों में ही खोट समझने लगते हैं। सम्भवतः इसी बात को ध्यान में रखकर मुनिजी ने भगवान महावीर के उन अमृत-वचनों को भी संकलित कर दिया है, जिनकी उपादेयता दैनिक जीवन में असंदिग्ध है। अज्ञान, प्रमाद, तृष्णा जैसी मानवीय दुर्बलतायें जीवन-रस को कटु-तिक्त तो करती ही हैं, महान लक्ष्यों की प्राप्ति भी असम्भव कर देती हैं। इसीलिए सुयोग्य सम्पादक ने इस खण्ड को पन्द्रह उपशीर्षकों में विभाजित कर मनुष्य को वे बोध-सूत्र दिये हैं जिनके द्वारा उसे जीवन में सुख और शान्ति की प्राप्ति हो सकती है और जीवन-यात्रा की सार्थकता सिद्ध हो सकती है। अब हम अपनी बात को प्रमाणित करने के लिए कुछ सूक्तियाँ उद्धृत करना चाहेंगे।

जीवन की क्षणभंगुरता पर अप्रत्यक्ष शिक्षा देती हुई भगवान महावीर की वाणी देखिये—

जह तुब्भे तह अम्हे, तुम्हे वि होहिहा जहा अम्हे।
अप्पाहेइ पडंतं, पंडुअ-पत्तं किसलयाणं॥

[पीतवर्ण पत्ता पृथ्वी पर गिरता हुआ अपने साथी हरे पत्तों से कहता है—"मेरे साथी ! आज जैसे तुम हो, एक दिन हम भी ऐसे ही थे, और आज जैसे हम हैं, एक दिन तुम्हें भी ऐसा ही होना होगा।][1]

इसी प्रकार 'भाषा-विवेक' उपशीर्षक के अन्तर्गत संकलित यह सुन्दर उक्ति देखिये :—

---

१. पृष्ठ २१६

मुहुत्त दुक्खा हु हवंति कंटया,
अओमया ते वि तओ सुउद्धरा।
पाया उरुत्ताणि दुरुद्धराणि,
वेराणु बंधीणि महब्भयाणि ॥

[लोहे के काँटे अल्पकाल तक दुःख देने वाले होते हैं और वे भी शरीर से सहजतया निकाले जा सकते हैं। किन्तु दुष्ट और कठोर वाणी रूपी काँटे सहजतया नहीं निकाले जा सकते, वे जन्म-जन्मान्तर के वैर की परंपरा को बढ़ाने वाले महाभयानक होते हैं।][1]

इस रचना में कहीं-कहीं भगवान महावीर की विद्रोही-वाणी को भी स्थान दिया गया है, जिसमें उन्होंने मानव-समाज के अन्तर्गत प्रचलित बाह्य विधि-विधानों तथा पाखंडों पर जोरदार आक्रमण किया है। उदाहरणार्थ पृष्ठ २७६ पर संकलित विकीर्ण सुभाषित देखिये, जिसमें स्नान के माध्यम से मोक्ष की कल्पना पर व्यंग्य किया गया है—

उदगस्स फासेण सिया य सिद्धी,
सिज्झिसु पाणा बहवे दगंसि।

[यदि जलस्पर्श अर्थात् जलस्नान से ही सिद्धि प्राप्त होती हो तो जल में रहने वाले प्राणी कभी के मोक्ष प्राप्त कर लेते।]

इस संदर्भ में हिन्दी साहित्य के परम विद्रोही कवि कबीर की उन अनेक उक्तियों का स्मरण तो आना स्वाभाविक है जिनमें उन्होंने मूर्ति-पूजा, बहुदेववाद तथा मुण्डन कराने से संन्यास-प्राप्ति की दुर्लभ कामना पर कटु प्रहार किये हैं—'केसन कहा बिगाड़िया जौ मूडौ सौ बार।' अर्थात यदि मुण्डन कराने से ही ईश्वर-प्राप्ति संभव है तो भेड़ तो सबसे पहले विष्णुपद की अधिकारिणी होगी, क्योंकि उसका तो जीवनपर्यन्त मुण्डन होता रहता है।

इस पुस्तक में सर्वत्र सम्पादक के नीर-क्षीर विवेक का तो परिचय मिलता ही है, उसकी गुण-ग्राहकता भी सराहनीय है। भगवान महावीर

१. पृष्ठ २२३

के सूक्तिसागर का गहन अवगाहन और मंथन करने के पश्चात् संकलन-कर्त्ता ने इतने महत्वपूर्ण विचार-रत्न एकत्र किए हैं। ऐसे संकलनों की अनेक सीमायें होती हैं—उदाहरणार्थ शीर्षको तथा उपशीर्षकों का त्रुटि-पूर्ण विभाजन, संग्रह करते समय महत्त्वपूर्ण बातों की उपेक्षा तथा अनावश्यक बातों की भरमार अथवा क्रम-निर्धारण की असफलता आदि। लेकिन मुनिजी का यह सम्पादन-कार्य इन त्रुटियों से मुक्त होकर उनकी प्रतिभा तथा विवेकपूर्ण दृष्टि को प्रत्यक्ष करता है और उनकी मर्मग्राहिणी बुद्धि तथा अथक श्रम-निष्ठा के प्रति पाठक को आश्वस्त करता है।

इस कृति की अनुवाद शैली बड़ी सरस और प्रभावशाली है। सच पूछा जाये तो अनुवाद-कार्य में ही मुनिजी की वास्तविक प्रतिभा की रश्मियाँ प्रकाश बिखेरती परिलक्षित होती हैं। उन्होंने जटिल दार्शनिक मन्तव्यों को भी प्रवाहपूर्ण भाषा और शैली से इस प्रकार अलंकृत कर दिया है कि अनुवाद में भी मूल रचना का आनन्द प्राप्त होने लगता है। उनका विषय-संयोजन और क्रम-निर्धारण भी बड़ा अर्थपूर्ण है। हम तो भविष्य में उनसे आशा करते हैं कि वे भगवान महावीर के समस्त वाङ्मय को इसी प्रकार विषयानुसार सम्पादित करते हुए सर्वसाधारण जनसमाज को उपकृत करेंगे और जैन आगमों की अमृत-वाणी को प्रसारित करेंगे।

"विचार रेखा"—"यथानाम तथा गुण" की उक्ति को सार्थकता प्रदान करने वाली अनुपम कृति है। इस कृति में संकलन, चयन एवं सुयोग्य सम्पादन की त्रिवेणी प्रवाहित है। मुनि-प्रवर ने अपनी इस पुस्तक में जीवन एवं जगत के अनेक पहलुओं से सम्बन्धित महान् ऋषियों, मनीषियों, सुधी विद्वानों, चिन्तकों एवं प्रखर राजनीतिज्ञों के सूक्ति-वाक्यों को अत्यन्त विवेक एवं श्रम से संकलित किया है। इस सन्दर्भ में लेखक का दृष्टिकोण अत्यन्त स्पष्ट है—"विचार रेखा—नीति ग्रन्थों का आलोक है, आगमों का मन्थन है और है उपदेशकों के अनुभवों का आलोक।" इस ग्रन्थ में अहिंसा, अपरिग्रह, अस्तेय, उपकार, उदारता, प्रेम, संगठन, धर्म, मानवता, मैत्री, सन्तोष, संयम, सुख, शान्ति तथा विवेक जैसे उच्च मानवीय आदर्शों के विषय में विचारकों के मन्तव्य संकलित हैं। लेखक का अध्ययन,

श्रम एवं सम्पादन सर्वथा सराहनीय है। इस प्रकार के ग्रन्थों के मनन-चिन्तन से पाठकों को ज्ञान-सरिता में डुबकी लगाने का तो सौभाग्य मिलता ही है, साथ ही व्यापक जीवन-सत्यों के प्रति निरंतर आकर्षण भी बढ़ता है।

'जीवन के अमृत कण'—अमर जैन साहित्य संस्थान (उदयपुर) का नवाँ रत्न है और लेखक ने इसे जीवन के प्रबुद्ध कलाकारों को समर्पित किया है। सचमुच जीवन एक कला है, जिसको सुसज्जित करने के लिए बहुत बड़ी कला-साधना की आवश्यकता है। मुनिजी का उद्देश्य इस जीवन की वाटिका को सुसज्जित करने के लिए मानव को सुन्दर आदर्शों के सुधा-बिन्दु प्रदान करना है। डा० वृजविहारी तिवारी ने इस ग्रन्थ की उपादेयता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"मोती का स्वरूप लघु होता है, किन्तु उसका मूल्य कितना अधिक होता है। संक्षिप्तता ही सच्ची विद्वत्ता है। मुनिजी की ये सूक्तियां देखने में छोटी, सीधी-सादी और सरल हैं, परन्तु उनमें अणुशक्ति की सूक्ष्मता है।" विभिन्न स्रोतों से पण्डित-प्रवर श्री गणेश मुनिजी ने इन अमृतकणों को संकलित किया है। धर्म, जाति और भाषा की संकीर्ण सीमाओं का परित्याग कर विद्वान् लेखक ने राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भों से इनका चयन किया गया है। इनमें महापुरुषों के जीवनानुभव की सुगन्ध छायी हुई है, मानव-जाति को सन्मार्ग पर ले चलने की अचल निष्ठा और प्रबल प्रेरणा समाई हुई है।

लेखक की अभिव्यंजना-शैली बड़ी गम्भीर और प्रभावशाली है। उसका शब्द-चयन और वाक्य-निर्माण इतना आकर्षक है कि पाठक के समक्ष दृश्य खड़ा हो जाता है। कथा के रस से भरी हुई सूक्तियाँ मन को इतना वशीभूत कर लेती हैं कि पाठक सम्पूर्ण रचना को एक साँस में पढ़े बिना नहीं रह पाता है।

"प्रेरणा के बिन्दु"—स्वाध्याय, अध्ययन और मनन की बलवती प्रेरणा की सार्थक सृष्टि का प्रमाण हमें मुनिश्री की 'प्रेरणा के बिन्दु' शीर्षक

रचना से प्राप्त होता है। छोटे से विचारकण में से अद्भुत प्रकाश-पुरुष को जन्म देना उनकी समर्थ लेखनी का चमत्कार है। अध्ययन और चिन्तन की पगडण्डियों पर चलते समय मुनिश्री के मानस में महत्वपूर्ण तथ्य उजागर हो जाते हैं, जिन्हें वे भावना और कल्पना का परिवेश देकर शब्दों की प्रतिभा में बदल देते हैं। मुनिजी ने अपनी रचना-प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए स्वतः स्वीकार किया है कि "जिन-जिन घटनाओं, तथ्यों व आँकड़ों से मेरे अन्तःकरण में स्फुरणा जगी, भावना तरंगित हुई, उन्हें शब्दों का रूप देने को बुद्धि लालायित हो गई और एक लघु पुस्तक का रूप बन गया।"

प्रस्तुत कृति में विद्वद्वर्य श्री गणेश मुनिजी शास्त्री ने अपने दीर्घ-कालीन अनुभवों, स्वाध्याय-प्रसूत अन्तर्दृष्टि से अब तक जो कुछ विचार-रत्न संग्रहीत किये थे, उन्हीं को चिन्तन प्रधान इक्यासी रूपकों तथा लघु-कहानियों में आबद्ध कर दिया है। संस्कृत की एक प्रसिद्ध सूक्ति में कहा गया है—"कणशः क्षणशश्चैव, विद्यामर्थ च संचयेत्" और मुनिजी ने इस उक्ति को प्रस्तुत रचना में सार्थक कर दिखाया है। छोटे-छोटे रूपकों के माध्यम से उन्होंने जीवन-यात्रा के साहसी पथिकों को महान् सन्देश दिये हैं, जिनके प्रकाश में वे अपनी यात्रा चरितार्थ कर सकते हैं। धार्मिक-सहिष्णुता, उद्योग और विवेक, सुखी जीवन का मूलमंत्र, चरित्र, वीरता और साधुता, शील जैसी सूक्ष्म प्रेरणाओं की विचार-माला को रचनाकार ने विभिन्न भाव-प्रसूनों से सुसज्जित कर दिया है। पुस्तक की गद्य-शैली इतनी प्रांजल और प्रभावशाली है कि पाठक का मन कथा-वीथियों में तन्मय होकर झूमने लगता है। कोरी नीति और उपदेश की शुष्कता से मुक्त रखकर लेखक ने अपनी रचना को कथा-रस से सम्पृक्त कर अत्यधिक रोचक और पठनीय बना दिया है। लघु-कहानियों की मार्मिक शैली इतनी व्यंजनापूर्ण है कि पाठक का मन आत्म-विभोर हो उठता है, और प्रेरणा की उत्ताल-तरंगों पर चढ़कर अनागत भविष्य की ओर चल पड़ता है।

अध्याय ९

काव्य-गुन्जन

यूनान के सुप्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो ने अपने 'आदर्श राज्य' से कवि नामक प्राणी को वहिष्कृत करने को सलाह दी थी, क्योंकि वे समाज को उच्च आदर्शों की प्रेरणा न देकर भावनाओं के साथ खिलवाड़ करते हैं और असंयम तथा अनैतिकता का मिथ्या प्रचार करते हैं। किन्तु उन्हीं के सुयोग्य शिष्य अरस्तू ने अपने गुरु की इस मान्यता का खण्डन करते हुए कवि की प्रभावशाली भूमिका की ओर संकेत किया और काव्य से प्राप्त होने वाली विश्रान्ति तथा मानसिक आह्लाद की स्थिति को स्पष्ट करते हुये विश्व-प्रसिद्ध 'विरेचन-सिद्धान्त' की स्थापना की। हमारे प्राचीन मनीषियों ने भी काव्य से प्राप्त होने वाले 'रस' अथवा आनन्द को 'ब्रह्मानन्द सहोदर' की उपमा दी थी और आचार्य मम्मट ने काव्य-प्रयोजनों की चर्चा करते हुये उससे प्राप्त होने वाले यश, कीर्ति, धन, व्यावहारिक ज्ञान, अमंगल का विनाश, आनन्द तथा उपदेश का विस्तृत विवेचन किया था। यदि आज भी हम काव्य की श्रेष्ठता के प्रतिमान इन्हीं तत्त्वों को मान लें तो हम देखते हैं कि मुनिजी की काव्य-रचनाओं में इन तत्त्वों की सहज संस्थिति है। मुनिजी की कविताओं का लक्ष्य किसी अमूर्त सौन्दर्यलोक की स्थापना नहीं है और न तो उपमा, रूपक तथा उत्प्रेक्षा जैसे अलंकारों की हाट सजाना है, वल्कि उनका काव्य-रसामृत तो मानवहृदय को स्फुरित कर लोक-कल्याण के मार्ग पर अग्रसर होने की प्रेरणा देता है। सन्तों का काव्य इसी लिये प्रभावशाली तथा मार्मिक होता है क्योंकि वह सीधे हृदय पर चोट करता है, वात को विना किसी लाग-लपेट के कह देना ही उन की कविता का वास्तविक सौन्दर्य है। गोस्वामी तुलसीदास ने काव्य की तुलना उस पवित्र गंगा से की है जो सव के हित का लक्ष्य लेकर प्रवाहित होती है—

कीरति, भनित, भूति भल सोई,
सुरसरि कहं सब कर हित होई।

इसीलिये मुनिजी की रचनायें लोक-मंगल के विधायक तत्त्वों से परिपूरित हैं। उनमें छद्म आधुनिकता का कृत्रिम प्रयास नहीं है, वल्कि जीवन और जगत के शाश्वत सत्यों का आख्यान है, मानवीय संवेदना की गहरी पहचान है। इन रचनाओं का मूल स्वर उपदेश प्रधान है, साथ ही इनमें नैतिकता, सादगी और स्वच्छता का नीति-रसामृत है। मुनिजी को व्यापक जन-जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग बनकर रहना पड़ता है, श्रद्धा से विगलित धार्मिक समाज को आध्यात्मिक प्रवचनों से संतुष्ट करना पड़ता है, अतः उनकी काव्य-शैली भी कहीं-कहीं प्रवचन के लोकप्रिय तत्त्वों का आधार लेकर विनिर्मित हुई है।

'संगीत-रश्मि' 'गीत-झंकार' तथा 'गीतों का मधुवन'—मुनिजी की उपर्युक्त तीनों रचनायें मधुर गीतों की स्वर-लहरियों से संयोजित हैं। मानव-हृदय की वीणा को झंकृत करने में संगीत का योगदान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इसीलिये मध्यकालीन संतों ने अपनी धार्मिक वाणी को विविध राग-रागिनियों से संपृक्त कर मानवीय संवेदना को जागृत करने का सफल प्रयास किया है। कबीर, नानक, तुलसी, मीरा आदि महान साधकों की परम्परा ने अपनी भक्ति-भावनाओं की श्रद्धान्जलि अपने आराध्य के चरणों में संगीत के माध्यम से प्रस्तुत की है। मुनिजी का भी इस दिशा में विनम्र प्रयास परिलक्षित होता है। 'संगीत-रश्मि' शीर्षक उनकी रचना को प्रस्तावित करते हुये श्री राजकृष्ण दुगड़ ने लिखा है—"श्री गणेश मुनिजी शास्त्री, जो जैन-समाज के एक चमकते-दमकते सन्त-रत्न हैं। उनके उर्मिल मानस में एक स्वाभाविक कवित्व की स्फूर्णा है। उसी के फलस्वरूप उन्होंने अपनी 'संगीत-रश्मि' में वर्तमान युग में वहु-प्रचलित विविध तर्जों के माध्यम से आकर्षक रूप में धर्म से सम्वन्धित अनेक प्रसंगों का ही नहीं, वरन समाज में प्रचलित अनेक कुरीतियों पर मार्मिक व्यंग्य किये हैं।"

'संगीत रश्मि' के अधिकांश गीत सिनेमा के लोकप्रिय गीतों की

धुनों पर लिखे गये हैं। इन गीतों में भाव-धारा के अनेक स्तर परिलक्षित होते हैं। संगीत को जीवन का वरदान मानने वाले श्री मुनिजी ने इन गीतों में अपने गुरुदेव के प्रति सर्वाधिक आदर दर्शाया है, हिन्दुओं को चेतावनी दी है, प्रभु से मुक्ति की कामना की है, और कहीं-कहीं आधुनिक प्रवृत्तियों पर व्यंग्य के वाण वरसाये हैं। प्रभु से प्यार करने का उपदेश देते हुए उन्होंने ज्ञानियों की आत्मा को उद्‌वुद्ध किया है। भाषा की सरलता तथा शैली की सहजता से लोकप्रिय धुनों पर लिखे गये ये गीत प्रभावशाली वन पड़े हैं।

श्री गणेश मुनिजी की उपर्युक्त रचना से तो संगीत की रश्मियाँ विकीर्ण हुई थीं किन्तु दूसरी रचना में यह प्रकाश झंकृत हो उठा है। 'गीत झंकार' की शैली भी मुनि जी की चिर परिचित शैली का सुन्दर स्वरूप हमारे सामने प्रस्तुत करती है, और पाठक के हृदय को संगीतधारा में निमज्जित कर देती है। इन दोनों कृतियों के विषय भी लगभग समान ही हैं, उन में विचारधारा के समानान्तर स्वरूप ही उद्‌घाटित हो सके हैं। गुरु-वन्दना मानव जीवन को चेतावनी तथा समय रहते विवेक की मंजिल पर पहुँचना आदि विषय तो वे ही हैं जिनकी अभिव्यक्ति 'संगीत-रश्मि' में हो चुकी थी। किन्तु कहीं-कहीं कवि ने प्रकृति में वर्षा-ऋतु के आगमन से होने वाले परिवर्तनों की ओर भी संकेत किया है, साथ ही गो-हत्या तथा कश्मीर-समस्या जैसी महत्वपूर्ण राजनीतिक समस्याओं पर भी ध्यान केन्द्रित किया है। पता चलता है कि कवि का ध्यान केवल वैयक्तिक साधना तक ही परिसीमित नहीं है वल्कि विभिन्न राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति भी वह जागरूक है। श्री विजय मुनिजी शास्त्री ने ठीक ही लिखा है—"प्रस्तुत पुस्तक में सामाजिकता तथा राष्ट्रीयता का वड़ी सुन्दरता के साथ समन्वय है।" गीतों की भावना और भाषा आधुनिक युग की चेतना के सर्वथा अनुकूल है। "गणेश गीतांजलि,' 'संगीत-रश्मि' और 'गीतझंकार' के मन-मोहक गीतों के पश्चात् कवि के रचना-संसार में "गीतों का मधुवन" छा गया। इस पुस्तक का पूर्वाङ्कन करते हुये पण्डितप्रवर प्रसिद्धवक्ता परमश्रद्धेय श्री पुष्कर मुनिजी म. के सुयोग्य शिष्य श्री देवेन्द्र मुनिजी शास्त्री ने लिखा है—

"प्रस्तुत पुस्तक के गीत नैतिक पुनरुत्थान में सहायक ही नहीं, प्रेरणा देने वाले भी हैं। भाषा, भाव और लय आदि सभी दृष्टियों से ये गीत सुन्दर हैं, सुन्दरतर हैं। इन गीतों में फिल्मी गीतों की तरह बिजली की तड़प, सर्चलाइट की चकाचौंध और सर्कस की कलाबाजी तो नहीं है, किन्तु जो कुछ भी है, वह सहज है, सरल है एवं सौम्य है।" इन गीतों का मुख्य लक्ष्य जन-मन को स्वस्थ बनाना तथा भौतिकता से अध्यात्मवाद की ओर मोड़ना है। जीवनोत्थान की प्रबल प्रेरणा से संचालित इन गीतों में वर्तमान वैज्ञानिक युग के अशान्त क्षणों से मानव मन को शान्ति प्रदान करने की क्षमता है। गीतों के विषय विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियों को समेटे हुये हैं—कहीं उनमें सोये हुये पथिक को जागरण-लोक की ओर ले जाने की प्रेरणा है, कहीं कर्मों के बन्धन से मुक्ति पाने के लिये महामन्त्र की माला फिराई गई है, तो कहीं पर्युषण पर्व की महत्ता सिद्ध की गई है। इस पुस्तक के अन्तर्गत हिन्दी के अतिरिक्त राजस्थानी गीतों का भी संकलन है, जिनमें सद्गुरु से लेकर आस्था के मोती तक की प्रशंसा की गई है। राजस्थानी लोकगीतों का माधुर्य इनमें सहजता से प्रवाहित है।

"महक उठा कवि सम्मेलन" मुक्तक-काव्य परम्परा में लिखे गये एकसौ एक मुक्तकों का अनूठा संग्रह है, जिसमें कवि ने भारतीय संस्कृति, धर्म, नीति आदि का पावन सन्देश देते हुए मानव हृदय को झंकृत करने का प्रयास किया है। श्री कलाकुमार के शब्दों में—"कवि ने अपने इन तमाम मुक्तकों में कमाल की सूझ भर दी है। व्यंगोक्ति के मर्म को छूने वाली व्यंजना, लाक्षणिकता की विपुल-बहुल शृङ्खला, कल्पना की उर्वर-भूमि पर युगबोध का सम्यक् समाहार, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का चमत्कार एवं भावों को जन-जन तक पहुँचाने वाली भाषा का सरल-सरस प्रवाह पद-पद पर छलकता नजर आता है।" इस रचना में कवि का ध्यान व्यक्ति, समाज और राष्ट्रीय जीवन में व्याप्त मूर्च्छा अथवा निष्क्रियता पर गया है और वह अपनी दिव्य तथा तेजस्वी वाणी के द्वारा इस अमरबेल को काटकर जागृति का रस संचारित करना चाहता है। इसीलिए उसने अपनी दृष्टि का आधारफलक विस्तृत बना

रखा है जिसमें दर्शन, धर्म नीति, समाज तथा जगत के अनेकविध रूप समाये हुए हैं। कवि-सम्मेलन की जिन्दादिली तथा हृदय को झकझोर देने वाली सूक्तियां इसमें अनेक स्थलों पर बिखरी पड़ी हैं। कवि ने कवि-सम्मेलन का सजीव वातावरण भी इसमें उतार दिया है। दैनिक बोल-चाल की भाषा को लेकर व्यंग्य की धार को प्रखर करते हुए कवि ने अपनी रचनात्मक क्षमता का भरपूर परिचय दिया है। मुक्तकों की सहजता चिन्तन का दृढ़ आधार लेकर अपनी गरिमा के साथ इस कृति में उपस्थित हैं।

वाणी-वीणा –अमर जैनसाहित्य सदन, जोधपुर से दिसम्बर १९६८ में प्रकाशित होने वाली यह कृति श्री मुनिजीकी लोक-कल्याणमयी विचारधारा की प्रतिनिधि काव्य-रचना है। यों तो इस पुस्तक की रचना करते समय कवि का शारीरिक स्वास्थ्य बहुत अनुकूल नहीं था, किन्तु इसकी विचार-भूमि पर शारीरिक अस्वस्थता की छाया कहीं से भी नहीं पड़ने पायी है। महत्वपूर्ण कृतियों की रचना महत्वपूर्ण प्रेरणा के क्षणों में होती है—यह जानकर ही कवि ने अपनी बीमारी के क्षणों का सुन्दर उपयोग किया है। 'वाणी-वीणा' की रचना का वास्तविक उद्देश्य स्पष्ट करते हुए कवि ने लिखा भी है :—

"लोक-अभ्युदय, निःश्रेयस् हित,
वाणी-वीणा हो अब झंकृत।
मैत्री—सहअस्तित्व-स्नेह के,
मधुर-मधुर मंगल स्वर मुखरित।"

चिन्तन, मनन व अनुभूति की काव्यमयी सरस अभिव्यक्ति के रूप में प्रस्तुत कृति ने परोपकार, सत्य, अहिंसा, स्नेह जैसे सद्गुणों की संस्तुति की है और नैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक प्रश्नों का समाधान करते हुए विश्वपथ को प्रकाशित करने का प्रयत्न किया है। डॉ० पारसनाथ द्विवेदी के शब्दों में—"वाणी-वीणा" किसी सम्प्रदाय विशेष का स्वर नहीं, बल्कि सच्ची निष्ठा के साथ मानवीय कर्तव्य-कर्मों का स्वर-सन्धान है, जीवन-जगत के श्रेयस् की पकड़ है।"

यह रचना "धर्म के अञ्चल में' 'अंगड़ाई' 'श्रेय और प्रेय', व्यक्ति और समाज', 'वोध निर्झर', 'युग अनुवन्धन' और 'पथ के दीप' इन सात सर्गों में विभाजित है। प्रत्येक सर्ग अपना परिचय स्वयं देता चलता है, क्योंकि कवि की तलस्पर्शिनी दृष्टि प्रत्येक विषय को वड़ी गम्भीरता के साथ निरखते हुये और मौलिक सर्जना का उद्घोष करतो है। काव्य की शैली सरस होने के कारण इसमें उपदेशात्मकता की रूक्षता स्वतः तिरोहित हो गयी है और पुस्तक का सम्पूर्ण परिवेश काव्यमय हो उठा है। आधुनिक जीवन का व्यंग्य, सम्वन्धों का खोखलापन और राष्ट्रवाद का कोरा उपदेश कवि की दृष्टि से नहीं वच सका है और उसने इन कुप्रवृत्तियों की भी अच्छी खवर ली है। कवि की दृष्टि मध्ययुगीन आदर्शों की भी नयी व्याख्या करती है तथा त्याग, संयम, अहिंसा जैसे शाश्वत मूल्यों को आधुनिक जीवन के सन्दर्भ में नया अर्थ देती है।

इस पुस्तक की शव्द-भंगिमा, वाक्य-संगठन तथा पद-योजना अत्यन्त परिष्कृत रूप में निखर उठी है। कवि ने अपने चिन्तन को अत्यन्त प्रौढ़ रूप में प्रस्तुत किया है और यह प्रयत्न किया है कि काव्य की सरसता में कहीं व्याघात न हो। वम्वई से प्रकाशित होने वाला दैनिक समाचार पत्र "नवभारत टाइम्स' ने इस पुस्तक की विशेपताओं पर प्रकाश डालते हुये लिखा है—"वाणी-वीणा जीवन की सात्विक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति का काव्यात्मक स्वरूप है, आज के युगवैपम्य और कुण्ठाओं में पल रहे समाज के लिये इस प्रकार का संगीतात्मक प्रेषण प्रेरणाप्रद हो सकता है, समभाव मैत्रीदिवस, प्रेम मन्त्र, धार्मिकता, अहिंसा आदि जैनधर्म से सम्मत उदात्त प्रवृत्तियों पर सुन्दर काव्यात्मक पंक्तियाँ प्रस्तुत की गई हैं जो लेखक के चिन्तन, मनन व अनुभूति की सात्विकता का पोपण करती हैं, कवि की इस मानवतावादी दृष्टि में ही वीणा का वैशिष्ट्य निहित है।

सुबह के भूले—अत्यन्त अर्थगर्भित एवं ध्वन्यात्मक प्रसंगों से अलंकृत होकर यह रचना लक्ष्यहीन गलियों में भटक रहे आधुनिक मानव-समाज को साधनाशाल जीवन के लिये पथनिर्देशिका वन कर प्रकाश दे रही है। 'सुवह का भूला यदि शाम को घर लौट आये तो वह भूला नहीं कहलाता'

इस लोकोक्ति को आधार बनाकर मुनिजी ने अपभ्रंश काव्य परम्परा से चले आ रहे चरित-कथानकों को मुक्त छन्द की नूतन शिल्प-सज्जा देकर प्रभावशाली बना दिया है। कवि का विश्वास है कि—"प्रस्तुत कथानकों में सुबह के भूले साधक शाम तक अपने घर लौटने में सक्षम हुये हैं, यही उनकी प्रेरकता है। हम भूलते तो हैं, भटकते भी हैं, पर पुनः अपने पथ पर लौटने का प्रयत्न कितने करते हैं? विस्मृति से यदि स्थिर स्मृति प्राप्त कर सकें, सुषुप्ति में से यदि नव जागरण का बल ले सकें, तो हम अपने जीवन पथ पर निर्विघ्न, निर्भय बन आगे बढ़ते रहेंगे—यही मेरी इन कविताओं की प्रतिध्वनि या अन्तर्ध्वनि है।"

आधुनिक समाज एक प्रकार की मूल्यहीनता के कगार पर खड़ा होकर जड़ीभूत स्थिति से संत्रस्त हो गया है। नैराश्य, कुण्ठा, संत्रास, विघटन आदि भयंकर व्याधियों से पीड़ित होकर मानव-समाज दिग्भ्रमित हो रहा है। ऐसी स्थिति में इस कुहासे को चीरती हुई प्रकाश रेखा किसी भी कोने से आये तो हमें उसका स्वागत करना चाहिये। मध्ययुगीन साधकों ने तत्कालीन मोहग्रस्त मानव-जीवन को त्याग, तपस्या एवं साधना के मार्ग पर प्रवृत्त होने का संकल्प दिया था और उसी की प्रेरणा पाकर महात्मा तुलसीदास की वह गम्भीर वाणी दिग्-दिगन्त तक गूंज उठी थी—

"अब लौं नसानी अब न नसैहौं।
राम-कृपा भव-निशा सिरानी जागत फिर न डसैहौं।"

श्री गणेश मुनि जी ने भी यह कार्य बड़ी लगन तथा निष्ठा के साथ सम्पादित किया है, अतः इस रचना का जितना भी स्वागत हो, वह कम होगा।

साधकों के चरण भी कभी-कभी पथ-भ्रष्ट हो जाते हैं, माया, मोह नारी आदि की कुहेलिका उनकी साधना को स्खलित कर देने का भरपूर प्रयास करती है। कवि की दृष्टि में यह सुषुप्ति का क्षण है, विस्मृति का आवाहन है। किन्तु इस स्थिति को सनातन बरकरार रखना साधक का धर्म नहीं है। विचार, चिन्तन और विवेक की दीपशिखा को प्रज्ज्वलित कर

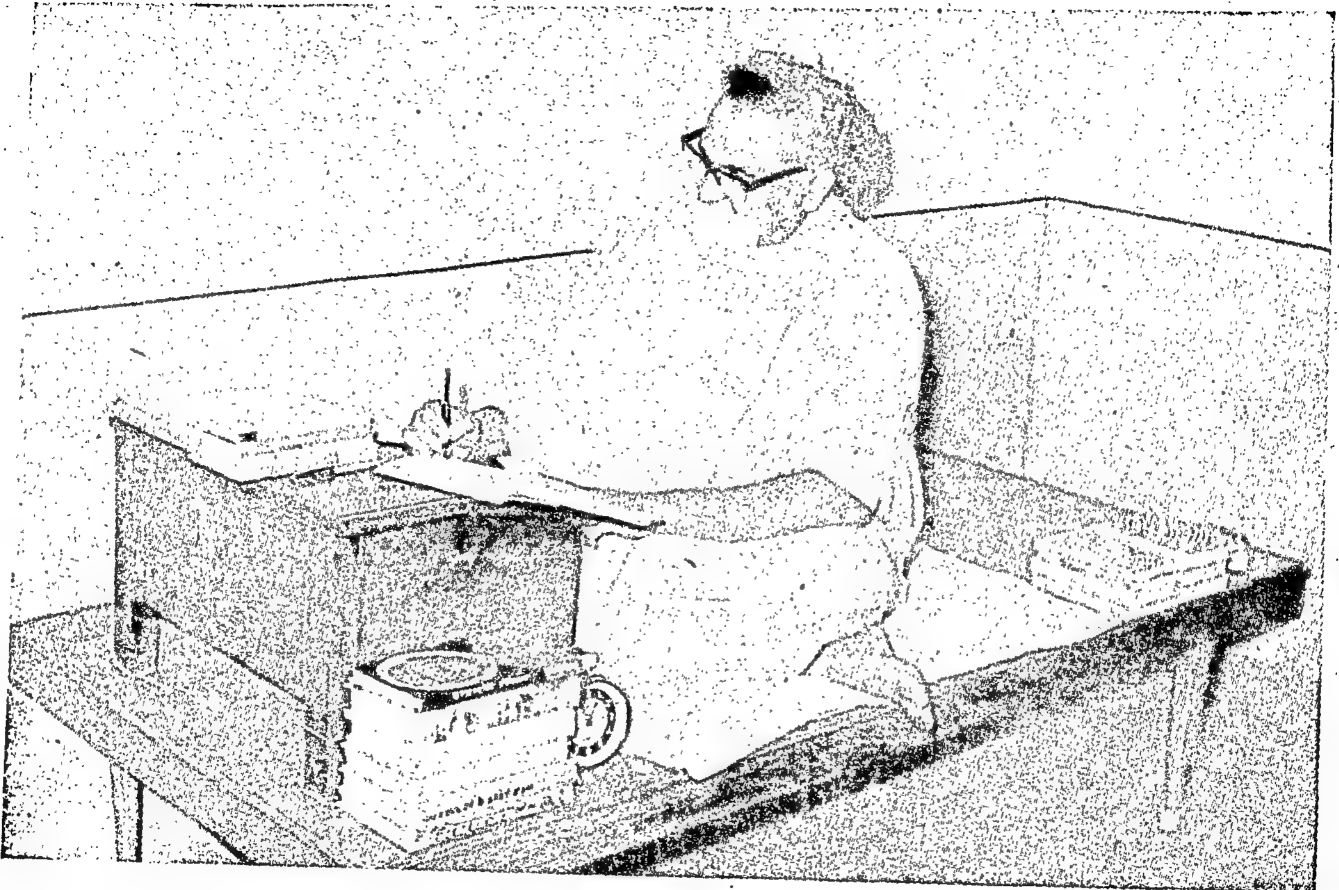
उसे पुनर्जागरण की स्थिति में आना ही होगा। भगवान महावीर ने मन को सदैव जागृत रखने का आदेश दिया था। मन पर यदि कभी सुषुप्ति का अन्धकार घिर जाये तो उसे विवेक के प्रकाश से छिन्न-भिन्न कर दो, ऐसा उनका स्पष्ट निर्णय है। कवि ने इसी सिद्धान्त से प्रेरणा पाकर इस रचना में ऐतिहासिक इतिवृत्त तथा कल्पना के समाहार से नूतन भाव-छवियों का निर्माण किया है। जैन आगमों की लोकप्रिय नीति-कथाओं तथा चरित-आख्यानकों को रचनाकार ने अपनी प्रतिभा से एक नया स्वरूप दे दिया है। डॉ० नरेन्द्र भानावत के शब्दों में—"संकलन की सभी कवितायें कथा की अलगनी पर टिकी हुई हैं। उनमें वर्णनों की चित्रोपम छटा और भावों की रंगीली मर्मस्पर्शिता है। कथा-प्रेमियों एवं कविता-प्रेमियों दोनों के लिये यह कृति परितोषकारी है।"

पुस्तक की भाषा-शैली प्रवाहपूर्ण और प्रभावशाली है। शब्दों का सुन्दर संयोजन, वाक्यों का सुगठित स्वरूप और अभिव्यक्ति की स्वच्छता रचनाकार की सजग शिल्प-चेतना का प्रत्यक्ष उदाहरण है। रचनाकार ने मुक्त छन्द में गीति-शैली की सहजता, तन्मयता तथा प्रगल्भता का सुन्दर संयोजन किया है। मुझे विश्वास है कि प्रस्तुत उपक्रम जैन सन्त काव्य-परम्परा की श्रीवृद्धि में भरपूर योगदान देगा। □

अध्याय ७

शोध और अनुशीलन

'**अहिंसा की बोलती मीनारें**' तथा '**आधुनिक विज्ञान और अहिंसा**' जैसी दो महत्वपूर्ण गद्य कृतियों को निर्मिति के बाद श्री गणेश मुनिजी की शोधात्मक एवं अनुशीलनात्मक प्रतिभा का प्रस्फुटन उनकी सुप्रसिद्ध कृति '**इन्द्रभूति गौतमः एक अनुशीलन**' में बड़े भव्य ढंग से हुआ है। साधारणतः संतों के साहित्य में उपदेशात्मकता का इतना प्रवल आग्रह होता है कि अनुसंधानात्मक दृष्टि से नूतन विचारों को कम अवकाश मिलता है। फलस्वरूप संतों के साहित्य में एक ही ढंग की मान्यताओं का पिष्टपेषण निरंतर होता चलता है। ऐसी स्थिति में वे स्वयं अपनी परंपरा का पुनर्मूल्यांकन नहीं कर पाते और उनमें पुनरावृत्ति का दोष विद्यमान हो जाता है। हिंदी साहित्य में नाभादास के '**भक्तमाल**' जैसी काव्य-रचना और हिंदी गद्य के प्रारंभिक चरण में '**दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता**' जैसी गद्य रचना का विशिष्ट महत्व सहज ही ध्यान आकर्षित करता है। इन रचनाओं में अपनी पूर्ववर्ती परंपरा की जानकारी तो है ही साथ ही, इनका ऐतिहासिक महत्व भी है। एक मौलिक साहित्य सर्जक के रूप में प्रतिष्ठित श्री गणेश मुनि जी जैसे साहित्यकार से लोग यह अपेक्षा बहुत कम करते हैं कि वे शोध एवं अनुसंधान की जटिलताओं में प्रवेश कर तर्क-वितर्क की प्रणाली से किसी महामानव के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर नूतन दृष्टि डालेंगे। वस्तुतः मौलिक लेखन एवं सर्जनात्मक साहित्य की प्रक्रिया अनुसंधान की प्रक्रिया से बहुत कुछ भिन्न होती है। अनुसंधान के पूर्व एक श्रमसाध्य मानसिक तैयारी की आवश्यकता होती है और अपने से पूर्व ज्ञात तथ्यों के संकलन की भारी जिम्मेदारी निभानी पड़ती है। पूर्व जानकारी के संदर्भ में नूतन खोज करके



शोध-प्रधान लेखनकार्य में लीन
श्री गणेशमुनि जी शास्त्री

अपनी मान्यताओं की सृष्टि करनी होती है। एक स्थान से दूसरे स्थान तक निरंतर विहार करते हुए इस प्रकार के व्यवस्थित कार्य की संभावना वहुत कम होती भी है। किन्तु मुनिजी ने इन चुनौतियों को स्वीकार करके अपने श्रमसाधना तथा अटूट निष्ठा के वल पर अनुसंधान के पथ को प्रशस्त किया है। जैन-परंपरा के श्रेष्ठतम साधक इन्द्रभूति गौतम के गौरवशाली व्यक्तित्व तथा कृतित्व का शब्दांकन पहली वार प्रस्तुत करके मुनिजी ने जैन साहित्य की समृद्धि में उल्लेखनीय योग दिया है।

श्रमण-विचार-धारा का आदि स्रोत 'आगम' जन संस्कृति का प्राण-विंदु है. 'आगम' के अभाव में जैन संस्कृति और दर्शन की परिकल्पना भी संदिग्ध है। 'आगम' श्रमण संस्कृति के चिंतन का सवसे प्राचीन एवं मौलिक संग्रह है। 'आगम' की मूल कल्पना तो तीर्थकरों की अमृत वाणी से फलीभूत होती है किंतु उस पवित्र वाणी को शब्दाकार देकर संयोजित करने का श्रय गणधरों को ही प्राप्त है। इस दृष्टि से जैन वाङ्मय को रूपायित करने वाली विशिष्ट प्रतिभायें गणधरों के रूप मे हमें प्राप्त होती हैं। गणधरों की इसी परंपरा में सवसे प्रकाशवान नक्षत्र इन्द्रभूति गौतम हैं जिनके व्यक्तित्व को अभ्यर्थना करते हुए प्रख्यात जैन विचारक उपाध्याय अमर मुनि ने लिखा है—"गणधर इन्द्रभूति का महाप्राण व्यक्तित्व श्रमण परंपरा के गौरव का एक पिंडीभूत रूप है। श्रुत महासागर की असीम-अतल गहराई में पैठकर भी सत्य की उत्कट जिज्ञासा, विचारों का अनाग्रह तथा हृदय की विरल विनम्रता, मधुरता, सरलता का विलक्षण संगम इन्द्रभूति के जीवन का अद्वितीय रूप है, न केवल श्रमण संस्कृति में, अपितु-संपूर्ण भारतीय संस्कृति में भी। २५०० वर्ष पूर्व का यह महान व्यक्तित्व श्रमण-ब्राह्मण परंपरा के वीच सेतु वनकर आया और सांस्कृतिक-मिलन, धार्मिक-समन्वय एवं वैचारिक-अनाग्रह का मार्ग प्रशस्त करने में सफल हुआ।"

भगवान महावीर के सान्निध्य में दीर्घकाल तक साधना करते हुए इन्द्रभूति गौतम ने अपनी अनंत जिज्ञासाओं का समाधान भो पा लिया। संसार में ऐसे सुयोग्य शिष्य अत्यत विरल होते हैं, जो अपनी साधना के गुरु अथवा मार्गदर्शक की ज्ञान-गंगा में स्वयं को निमज्जित कर डालें। आर्य

इन्द्रभूति ऐसे असाधारण गणधर थे, जिन्होंने उदग्र जिज्ञासा से प्रेरित होकर तीर्थंकर महावीर के निकट जाने का सुअवसर प्राप्त किया था। भगवान महावीर की अलौकिक चेतना ने शंकाग्रस्त इन्द्रभूति के मानस को शांति दी थी और शंका-समाधान की इसी प्रक्रिया से आगम साहित्य की सुदृढ़ नींव का निर्माण हुआ। आगम साहित्य का अधिकांश भाग आर्य इन्द्रभूति की जिज्ञासा और भगवान महावीर के समाधान के रूप में प्राप्त है। प्रस्तुत पुस्तक के 'प्रकाशकीय' के अन्तर्गत इसी तथ्य को स्वीकृति देते हुए लिखा गया है—"यदि आगम वाङ्मय में से महावीर—गौतम के संवाद निकाल दिये जायें, तो पता नहीं आगम में फिर क्या बच पायेगा ? गौतम-महावीर के संवाद को जैन वाङ्मय का प्राण कहा जा सकता है। आगमों में गौतम एक व्यक्ति के रूप में नहीं, किन्तु एक प्रखर जिज्ञासा के रूप में खड़े हैं, और महावीर एक समाधान बनकर उपस्थित होते हैं।"

लेकिन इन्द्रभूति गौतम का महत्व केवल आगम साहित्य के शब्द-कार के रूप में ही नहीं है अपितु उनका व्यक्तित्व इतना विराट और बहुमुख है कि ज्ञान, भक्ति और कर्म की त्रिवेणी उनमें समाहित हो गई है। धर्म, दर्शन, संस्कृति, चरित्र आदि सभी दृष्टियों से उनका जीवन प्रेरणा-दायक एवं महान है। भगवान महावीर के प्रधान अंतेवासी रहकर उस महान व्यक्तित्व ने जैन वाङ्मय को वह विभूति दी, जो आगे आने वाली पीढ़ियों को भी ज्ञानामृत पिलायेगी और दीपशिखा की भाँति उनके पथ को आलो-कित करेगी। ऐसे महान साधक को एक लघु कृत्ति की सीमा में प्रस्तुत करना अत्यंत कठिन है, फिर भी श्री गणेश मुनिजी ने जिस निष्ठा, परिश्रम एवं तटस्थ शोधक की दृष्टि से यह कार्य पूर्ण किया है, उसकी प्रशंसा करते हुए जैन साहित्य के मर्मज्ञ डॉ० जगदीश चन्द्र जैन का यह अभिमत विचार-णीय है—"इस दृष्टि से 'इन्द्रभूति गौतम : एक अनुशीलन' महत्वपूर्ण लघु कृति है। यहाँ श्री गणेशमुनि शास्त्री ने इन्द्रभूति के संबंध में विस्तृत चर्चा करते हुए भारतीय चिंतन की पृष्ठभूमि के साथ उनके असाधारण व्यक्तित्व पर विद्वत्तापूर्ण प्रकाश डाला है। जैन, बौद्ध, एवं ब्राह्मण ग्रन्थों के आलोडन पूर्वक सरल भाषा में रची उनकी यह पुस्तक स्वागत के योग्य है।"

यह पुस्तक पांच खंडों में विभक्त है और अन्त में लेखक ने परिशिष्ट के रूप में अत्यंत महत्त्वपूर्ण तथ्यों की एकत्र जानकारी दी है। इस परिशिष्ट में 'गणधरों का लेखा' शीर्षक एक सूची दी गई है जिसमें एकादश गणधरों की संक्षिप्त जीवनी अंकित है और अंत में श्री 'गौतम रास' तथा महावीर स्वामी का 'चौढालिया' जैसी राजस्थानी कविताओं से पुस्तक को आकर्षक स्वरूप प्रदान किया गया है।

इस पुस्तक का प्रथम खंड 'सांस्कृतिक अवलोकन' के नाम से लिखा गया है। इस अध्याय को जीवन-दर्शन, आर्य इन्द्रभूति, भगवान महावीर को कैवल्य एवं तीर्थ प्रवर्तन, मगध की सांस्कृतिक विरासत, ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष, आत्मविद्या के पुरष्कर्ता क्षत्रिय, पावा में यज्ञ का आयोजन, गौतम-एक परिचय, पावा में भगवान महावीर, निराशा और जिज्ञासा तथा समवसरण की ओर आदि उपशीर्षकों में विभक्त कर दिया गया है। लेखक ने इस अध्याय के प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट कर दिया है कि मर्यादा पुरुषोत्तम राम, कर्मयोगी श्री कृष्ण, करुणामूर्ति बुद्ध-और श्रमण भगवान महावीर ये चार आर्य संस्कृति के दिव्य रत्न हैं। लेकिन इन महान व्यक्तित्वों को अपने विचारों की अभिव्यक्ति देने के लिये सहयोगी के रूप में चार अन्य तेजस्वी साधकों का सहयोग प्राप्त होता रहा है। लेखक की मान्यता है कि 'राम, कृष्ण, बुद्ध और महावीर—ज्ञान हैं, लक्ष्मण, अर्जुन, आनन्द एवं गौतम कर्म हैं। वे विचार हैं तो वे आचार हैं।'[1] इन्द्रभूति गौतम ने भगवान महावीर की ज्ञानसाधना को आगम के माध्यम से जन-समाज तक पहुंचाने का महान कार्य किया है। गौतम के दीक्षित होने के पश्चात् ही संघ की स्थापना हुई और द्वादशांगी को साकार रूप प्राप्त हुआ। इस ग्रन्थ में आर्य इन्द्रभूति के जीवन-परिचय का लेखक ने बड़ी प्रामाणिकता साथ उल्लेख किया है और जैन परंपरा में गणधर का महत्व प्रतिपादित किया है। लेखक ने मगध की सांस्कृतिक एवं धार्मिक परंपराओं का स्पष्ट विवेचन करते हुए ब्राह्मण क्षत्रिय संघर्ष की उस प्रारम्भिक भूमिका की ओर संकेत किया है जिसमें ब्राह्मणों की श्रेष्ठता के समक्ष प्रश्नचिन्ह लगाकर क्षत्रियों

१. पृष्ठ ७१।

ने आत्मविद्या के पुरष्कर्ता होने का गौरव प्राप्त किया। इसी अध्याय में आर्य इन्द्रभूति की निराशा और जिज्ञासा का भी लेखक ने उल्लेख किया है जिसके कारण उन्हें भगवान महावीर की शरण में जाना पड़ा था। अपने पांच सौ शिष्यों के साथ यज्ञ-विधि को संपन्न करने के पूर्व ही इन्द्रभूति गौतम ने भगवान महावीर के समवसरण में उपस्थित होने की आत्म प्रेरणा प्राप्त की। आर्य इन्द्रभूति का पांडित्य, वेद और उपनिषदों पर उनका अतुलनीय अधिकार तथा दर्शन, न्याय, तर्क, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि विषयों की मर्मज्ञता भी उनके अंतर्मानस में उठने वाली शंकाओं का उचित समाधान न दे सकी। मन का झूठा अहकार तथा धर्मोन्माद उन्हें बार-बार विवश करता रहा कि वे स्वयं वर्धमान से शास्त्रार्थ करें और उन्हें पराजित कर वैदिक धर्म की पताका फहरायें। लेकिन यह सब संभव न हो सका।

दूसरे खंड के अन्तर्गत इन्द्रभूति का संशय बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त हुआ है। जीव है अथवा नहीं ? इन्द्रभूति के मन में यह सबसे जटिल प्रश्न गूँजता रहा और अंत में यह जटिलता ही उन्हें भगवान महावीर के निकट जाने के लिये विवश करती रही। आत्मा के संबंध में भारतीय चिंतन के अंतर्गत अनेक प्रकार की अवधारणायें विकसित हुई हैं, जिनको देखने से किसी एक निश्चित मत पर पहुँचना अत्यंत कठिन है।

देह और आत्मा का संबंध, आत्मा का स्वरूप, इन्द्रियात्मवाद जैसे अनेक जटिल प्रश्न आत्मा की सत्ता एवं अस्तित्व को संदिग्ध बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ते। इन्द्रभूति की बेचैनी आत्म विचारणा की इस विषम स्थिति में और बढ़ती जा रही थी। उन्होंने अपने युग के बड़े-बड़े मनीषियों, विद्वानों और तर्कशास्त्रियों से वादविवाद द्वारा किसी निर्णय पर पहुँचने का भरसक प्रयास किया होगा, किन्तु उन्हें असफलता ही हाथ लगती रही। उनकी इसी बेचैनी को साकार करते हुए श्री गणेश मुनि जी ने लिखा है—
"जिस प्रकार सामान्य व्यापारी को अपने हिसाब-किताब की एक छोटी-सी भूल भी चैन नहीं लेने देती, उसी प्रकार विद्वान के मन को जब तक उसका संशय निर्मूल न हो जाये, शांति प्राप्ति नहीं होती, अपनी संपूर्ण विद्वत्ता पर एक चोट-सी प्रतीत होती है और वह विद्वान के लिये किसी प्रकार

सह्य नहीं होती।"[1] पर्याप्त वैचारिक उहापोह तथा आत्ममंथन के वाद भी आर्य इन्द्रभूति अपने मन के गूढ प्रश्नों का समाधान न पा सके।

आत्मचिंतन की द्विधाग्रस्त स्थिति को झेलते हुए इन्द्रभूति गौतम का भगवान महावीर की ओर प्रस्थान दूसरे अध्याय का अन्तिम निष्कर्ष है। इस अध्याय की विशेषता यह भी है कि लेखक ने जीव और आत्मा संबंधी संशय को संपूर्ण भारतीय चिंतन के संदर्भ में प्रस्तुत किया है। यहाँ केवल जैनदर्शन अथवा जैनधर्म के विचारों की पुनरावृत्ति मात्र ही नहीं है अपितु लेखक ने भारतीय चिंतन की पृष्ठभूमि का सारांश भी दे दिया है। इस पुस्तक के अगले खंडों में वैचारिक भूमिका की प्रबल अनुभूति प्राप्त होती है। खंड तीन पूरी तरह से आत्मविचारणा का आख्यान कहता है। इन्द्रभूति आयु में महावीर से ज्येष्ठ थे। महावीर लगभग बयालीस वर्ष के थे जब कि इन्द्रभूति जीवन के पचास वसंतों को देख चुके थे। आर्य इन्द्रभूति के मन में महावीर को तर्क से पराजित करने का मनोवेग मचल रहा था। इसलिये जब वे महसेन उपवन के निकट पहुँचे और भगवान महावीर के अलौकिक व्यक्तित्व का दर्शन किया, तो अभिमान, अहंकार और ईर्ष्या की भावनाएँ स्वतः विगलित होने लगीं। महावीर के निकट पहुँचते ही इन्द्रभूति का संशय उद्घाटित हो गया और आत्मा के अस्तित्व के संबंध में उनके मन के सदेह को भगवान महावीर ने स्वतः जान लिया।

इस अध्याय में आत्मा के अस्तित्व को लेकर इन्द्रभूति के मन के संशय को उद्घाटित करते हुए भगवान महावीर के पवित्र विचारों की सुन्दर भूमिका प्रस्तुत की गई है। आत्मा न तो प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है और न परोक्ष अनुमान से। यही नहीं आगम प्रमाण से भी आत्मा और जीव का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। आगमों में भी इस संबंध में परस्पर विरोधी निष्कर्ष प्राप्त होते हैं। अतः उनके आधार पर निर्णय लेना अत्यंत कठिन है। आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर ही किया जा सकता है और आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव प्रत्येक प्राणी को निरंतर हो रहा है। इस संदर्भ में श्रमण महावीर का यह कथन उल्लेखनीय है—'जिस

---

१. पृष्ठ ३२।

प्रकार शरीर का सुख-दुख स्व संविदित है, उसके लिये किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं, उसी प्रकार विज्ञान रूप आत्मा का संशय के रूप में तुम प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हो तो फिर किसी प्रमाण की तुम्हें कोई अपेक्षा नहीं होनी चाहिये।"[१]

संशय के अतिरिक्त 'अहं प्रत्यय' के द्वारा भी प्रत्यक्ष आत्मानुभव संभव है। इसी संदर्भ में भगवान महावीर ने आर्य इन्द्रभूति के समक्ष 'गुण-गुणी भाव' के द्वारा भी आत्मा के अस्तित्व पर विश्वासपूर्वक प्रकाश डाला। जीव की अनेकता की बात भी भगवान ने बड़े सरल उदाहरणों द्वारा इन्द्रभूति के हृदय में उतारने की कोशिश की। सब जीव परस्पर भिन्न हैं और उनके लक्षण भी भिन्न हैं। एक जीव को दुःख का अनुभव होने पर सब जीवों को दुःख का अनुभव नहीं होता, उसी प्रकार एक की मुक्ति होने पर सबकी मुक्ति नहीं होती। अतः तर्क से यह बात सिद्ध की जा सकती है कि जीव प्रतिपिंड में भिन्न है और उसके लक्षण भी परस्पर भिन्न हैं। जीव विषयक संदेह नष्ट हो जाने पर भी आर्य इन्द्रभूति का मन वेदवाक्यों की विविधता से भ्रांतिमान था। अतः भगवान महावीर को वेद वाक्यों की संगति बैठानी पड़ी। उन्होंने इन्द्रभूति से स्पष्ट शब्दों में कहा—"तुमने वेद पदों का अध्ययन किया है, पारायण भी किया है, पर मुझे लगता है कि तुमने अब तक केवल शब्दपाठ किया है, वेदों के हृदय को नहीं समझा है, शब्दों में सुप्त अर्थ को जाग्रत नहीं किया है।"[२] भगवान का यह कथन अतिशय महत्वपूर्ण है। शब्दों की आत्मा अर्थ में ध्वनित होती है, अतः शब्द और अर्थ की पूर्ण संगति के बिना विचारसूत्र को पकड़ना संभव ही नहीं है। वेदों का पारायण करना एक बात है किन्तु वेदों की अर्थमीमांसा करना दूसरी बात है। सारांश रूप में गौतम की समस्त शंकाओं का निराकरण करते हुए भगवान महावीर ने यह विश्वास

१. पृष्ठ १६।
२. पृष्ठ ४५।

व्यक्त किया कि जीव का अस्तित्व है और वह जैसा कर्म करता है, उसके अनुसार फल भी प्राप्त करता है।

तीर्थंकर महावीर के तर्कसंगत विचारों को जानकर इन्द्रभूति संशयमुक्त हो गये, उनके मन की गाँठ खुल गई, आँखों के आगे पड़ा हुआ पर्दा उठ गया। भगवान महावीर की सर्वज्ञता एवं वीतरागता पर गौतम को अटूट विश्वास हो गया और श्रद्धा से विगलित होकर इन्द्रभूति ने भगवान महावीर से शिष्य दीक्षा देने की प्रार्थना की। ऐसा विश्वास किया जाता है कि गौतम के साथ ही उनके पाँचसौ शिष्यों ने भी भगवान महावीर का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। इस संवाद की प्रतिक्रिया पावापुरी में एकत्रित विशाल ब्राह्मण समुदाय पर विभिन्न रूपों में पड़ी। इन्द्रभूति के पश्चात् यज्ञ-मंडप में उपस्थित अग्निभूति, वायुभूति आदि अन्य दस महापंडितों ने एक-एक करके भगवान महावीर से वाद-विवाद किया और अपने मन की अनेक शंकाओं का तर्क शुद्ध समाधान पाकर तीर्थंकर का शिष्यत्व स्वीकार किया। इस प्रकार भगवान महावीर के द्वितीय समवसरण में एक ही दिन में ग्यारह महापंडितों एवं चौदह सौ चवालीस शिष्यों ने दीक्षा ग्रहण की और भगवान महावीर ने वैशाख सुदी ११ को धर्मतीर्थ की स्थापना की। तीर्थंकर ने सर्वप्रथम सामाजिक जगत में नारी को सम्माननीय स्थान देते हुए जैन परंपरा में स्त्री की प्रव्रज्या के द्वार उन्मुक्त कर दिये। भगवान ने इसी महसेन वन में चतुर्विध संघ की स्थापना की और इन्द्रभूति आदि प्रमुख शिष्यों को 'त्रिपदी' का उपदेश दिया जो आगे चलकर द्वादशांगों के रूप में व्याख्यायित हुई।

इस पुस्तक के चतुर्थ खंड में आर्य इन्द्रभूति का समग्र व्यक्तित्व मूल्यांकन की कसौटी पर उतरा है। भगवान महावीर की पावन वाणी से मन के द्वन्द्वों से मुक्त होकर इन्द्रभूति गौतम सच्चे अर्थों में 'श्रमण' संज्ञा के उत्तराधिकारी बने। ब्राह्मण संस्कृति के जातीय गर्व और ज्ञानोन्माद से मुक्त होकर इन्द्रभूति समत्व भावना को प्राप्त कर सके। 'श्रमण' कहलाने का सच्चा अधिकारी वही है, जो समता का आचरण करता है अथवा जिसका मन सम होता है। आत्मशांति के राजमार्ग पर चलते हुए गौतम परिक-

लिप्त आग्रहों एवं क्रियाकांडों को त्यागकर साधना के कठोरतम सोपानों पर आरूढ़ होने लगे। श्रमण गौतम का वाह्य व्यक्तित्व सामान्य व्यक्ति से सर्वथा भिन्न था। 'भगवती सूत्र' में उनके तत्वज्ञान, साधना, शील एवं संयम का वहुत ही महत्वपूर्ण परिचय दिया गया है। गौतम वाह्य सुन्दरता के साथ-साथ आंतरिक सौंदर्य से भी परिपूर्ण था। जैन परंपरा में तिरेसठ महापुरुषों के शारीरिक संगठन, आकार-प्रकार की सुन्दर रूपरेखा सर्वविदित है। भगवान महावीर तथा गौतम वुद्ध का शारीरिक सौष्ठव सतत् आकर्षण का विषय रहा है। इन्द्रभूति के शरीर का आंतरिक गठन वहुत ही सुदृढ़ एवं परस्पर संवद्ध था। श्री गणेश मुनिजी ने गौतम के वाह्य व्यक्तित्व का सौंदर्य अंकित करते हुए लिखा है—"जिस प्रकार कसौटी पत्थर पर सोने की रेखा खींच देने से वह उस पर चमकती रहती है, उसी प्रकार की सुनहली आभा गौतम के मुख पर सतत दमकती रहती थी। उनका वर्ण गौर था, कमल की केसर की भाँति उसमें गुलावी मोहकता भी थी। पचास वर्ष की अवस्था होने पर भी उनके मुख व आँखों पर किसी प्रकार की विवर्णता नहीं आयी थी, वल्कि तपः साधना करने से उनके तेज में और अधिक निखार आने लगा। जव उनके ललाट पर सूर्य की किरणें गिरतीं, तो ऐसा लगता होगा कि कोई सीसा या पारदर्शी पत्थर चमक रहा है।"[1]

आकर्षक व्यक्तित्व से संपन्न इन्द्रभूति गौतम का तपःपूत जीवन स्वयं में एक प्रतिमान है। वे इतने वड़े साधक एवं तपस्वी थे कि भगवान महावीर के विशाल श्रमण संघ को उन पर गर्व था। उनकी दिनचर्या आगमों में विस्तार से वतलायी है। उनकी आचार क्रिया, लंवी तपश्चर्या आदि उच्चतम उदाहरण वनकर हजारों वर्षों के वाद भी अनुकरणीय है। गौतम शांति एवं सहिष्णुता के साक्षात अवतार थे। आत्म-शोधन के लिये वे लगातार तप करते रहे। गौतम के ब्रह्मचर्य की साधना इतनी विशिष्ट थी कि उन्हें अनेक ग्रन्थों में उर्ध्वरेता ब्रह्मचारी[1] के रूप में सम्मानित किया गया है। वे अध्यात्म के उस स्तर पर पहुँच गये थे, जहाँ शरीर रहते हुए

१. पृष्ठ ६०।

भी शरीर की भावना या शरीर का संस्कार नहीं रहता है। शरीर के सुख-दुःख और भूख-प्यास से उन्हें कोई आसक्ति नहीं थी। आत्मा का कठोर संयम करते-करते वे विपुल तेजोलब्धि को अपने शरीर के भीतर संगुप्त कर चुके थे।

गौतम की ज्ञान-संपदा अभूतपूर्व थी। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार वे चतुर्दश विद्याओं में पारंगत थे। चार वेद, छःवेदांग, धर्मशास्त्र, पुराण, मीमांसा एवं तर्क के वे अधिकारी विद्वान थे। इस प्रकार संपूर्ण श्रुत शास्त्र के ज्ञाता एवं रचयिता के रूप में गौतम की विलक्षण प्रतिभा अत्यंत सराहनीय थी। कठोर तपश्चर्या, एकांत विशुद्ध ध्यान और भगवान महावीर की अन्यतम उपासना गौतम के जीवन की महान विशिष्टता थी।

ज्ञान एवं आत्म साधना के चरम शिखर पर प्रतिष्ठित गौतम विनय, सरलता तथा मृदुता के प्रत्यक्ष उदाहरण थे। अपार ज्ञान गरिमा तथा तपःशक्ति के स्वामी होते हुए भी गौतम का हृदय बहुत ही सरल एवं विनम्र था। सरलता और विनम्रता गौतम के जीवन की अमूल्य संपत्ति थी। आतिथ्य-सत्कार में वे सबसे बढ़कर थे। स्पष्ट वक्ता और निर्भीक शिक्षक के रूप में वे प्रख्यात थे। प्रबुद्ध संदेशवाहक और कुशल उपदेष्टा के रूप में गौतम श्रमण संघ में सर्वोपरि थे। भगवान महावीर के लोक कल्याणकारी संदेश को जन-जन तक पहुँचाना उनका नियमित कर्त्तव्य था। लेखक ने उनके गुणों का समाहार प्रस्तुत करते हुए लिखा है—"उनका जीवन-पुष्प वस्तुतः पुष्प नहीं, किंतु फूलों का वह गुलदस्ता है जिसमें विविध रंग, विभिन्न सौरभ, एवं विविध आकार के सुरम्य सुकुमार फूल महक रहे हैं और अपने परिपार्श्व को भी सुरभित करते जा रहे हैं। आगम साहित्य में गौतम के अनेक जीवन-प्रसंग फूलों की तरह बिखरे हुए हैं, जिनमें कहीं भक्ति एवं विनय की सौरभ है, कहीं सरलता, सत्यनिष्ठा की महक है, तो कहीं ज्ञानोपासना एवं तत्वजिज्ञासा की सुगंध है।"[1]

इस पुस्तक का अंतिम और पाँचवां खंड लेखक ने परिसंवाद के रूप में प्रस्तुत किया है, जिसमें प्रश्न एवं संवाद शैली का सहारा लिया गया

---

१. पृष्ठ ७१।

है। इस अध्याय में गौतम के जिज्ञासु मन की सुन्दर छवि अंकित कर दी गई है। गौतम के प्रश्नों की शैली अत्यंत तर्कपूर्ण वैज्ञानिक तथा विनययुक्त है। वे केवल प्रश्न के लिये प्रश्न करते प्रतीत नहीं होते अपितु उनकी जिज्ञासा में सत्य की खोज है। उनके संशय में समाधान की गूंज है और उनके कौतूहल में विश्व के इंद्रजाल को समझने की तड़प है। लेखक ने गौतम के प्रश्नों को वर्गों में विभक्त कर दिया है। जो इस प्रकार हैं:— (१) अध्यात्म विषयक प्रश्न (२) कर्म-फल विषयक प्रश्न (३) लोक विषयक प्रश्न (४) स्फुट प्रश्न। प्रथम वर्ग में गौतम के उन प्रश्नों को स्थान दिया गया है जो उन्होंने भगवान महावीर से आत्मा, शाश्वत-अशाश्वत जीव, सामायिक, कर्म, कषाय. लेश्या, ज्ञान का फल, मोक्ष, सिद्ध स्वरूप आदि विषयों पर पूछे हैं। द्वितीय वर्ग में उन प्रश्नों का समावेश किया गया है, जो दूसरों को सुखी देखकर उसके पूर्वजन्मोपार्जित शुभ कार्यों से संबद्ध हैं। इसी प्रकार तीसरे वर्ग में लेखक ने उन प्रश्नों को स्थान दिया है, जो लोक-स्थिति, परमाणु, पृथ्वीकाय, वनस्पतिकाय, आदि में जीव, अजीव, भाषा, शरीर विषयक तथा सूर्य और चंद्र की गतियों से संबंध रखते हैं। चतुर्थ वर्ग गौतम के उन सहज प्रश्नों को समाहित किये हुए है, जो उनके मन में किसी विलक्षण घटना को देखकर समय-समय पर उठते रहे हैं और तीर्थङ्कर ने जिनका सुन्दर समाधान दिया है। लेखक ने चारों वर्गों से संबंधित कतिपय महत्वपूर्ण प्रश्नों को आगमों के हिंदी भावानुवाद के साथ प्रस्तुत किया है। इस प्रकार यह खंड दर्शन की अतल जिज्ञासा और उसके सम्यक् समाधान की कहानी कहता है।

इस प्रकार इस रचना की पूरी परिक्रमा के वाद पाठक के मन को अनेक नूतन विचारों की संपत्ति पाकर अपार हर्ष का अनुभव होता है। शोध और अनुशीलन के विषय इतने तार्किक एवं जटिल होते हैं कि साधारण पाठक का मन उन विषयों से पूरी तरह से आत्मीयता स्थापित नहीं कर पाता। विषयों को पूरी गंभीरता के साथ सहज शैली में प्रस्तुत कर देना गणेश मुनि जी की वहुत वड़ी विशेषता प्रतीत होती है। इस पुस्तक में कहीं-कहीं कथावाचक की शैली के सुन्दर दृष्टांत निखरे पड़े हैं, तो कहीं-कहीं प्रश्नोत्तर अथवा संवादशैली में वड़ी रोचकता के साथ तथ्य प्रस्तुत कर दिये गये हैं।

पुस्तक को एक वार हाथ में उठा लेने पर आद्यन्त पढ़ने की इच्छा स्वत: जाग्रत होने लगती है। इस पुस्तक की एक बहुत बड़ी विशेषता इसकी प्रामाणिकता है। लेखक ने बिना प्रमाण के एक भी वात ऐसी नहीं कही है जिसके वारे में पाठक के मन में संदेह जाग्रत हो। न केवल जैन ग्रन्थों की वल्कि अन्य धर्म तथा दर्शन के महत्वपूर्ण ग्रन्थों की सहायता से लेखक ने रचना को संदेह से परे कर दिया है। प्रत्येक पृष्ठ पर अपने निष्कर्षों को लेखक ने प्रामाणिक पुस्तकों के उद्धरण देकर अधिक मूल्यवान बना दिया है। इतने अधिक ग्रन्थों का अनुशीलन लेखक की बुद्धिमत्ता तथा श्रम-निष्ठा का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है।

लेखक ने इस पुस्तक में जिस भाषा का प्रयोग किया है वह शोध एवं अनुशीलनात्मक विषयों के सर्वथा अनुकूल है। भाषा की दृष्टि से यह लेखक की वहुत वड़ी सफलता कही जा सकती है कि उसमें कहीं भी तथ्यों का घटाटोप नहीं दिखलायी पड़ता। स्वच्छ एवं प्रवाहपूर्ण भाषा में लिखी लेखक की यह गद्य कृति जैन साहित्य में सम्माननीय स्थान की अधिकारिणी है।

गणेश मुनिजी चूंकि हृदय से कवि हैं, अत: उनकी इस रचना में सर्जनात्मक प्रतिभा का यथोचित उपयोग दिखलायी पड़ता है। आर्य इंद्रभूति का वर्णन करते समय वे कोमल-कांत पदावली का प्रयोग करते हैं और पाठक को उसी भाव-धारा में निमज्जित कर देते हैं। दर्शन की जटिलता को उनकी काव्य-प्रतिभा सरस वना देती है। गौतम के कुछ चुने हुए जीवन प्रसंगों को अंकित करके लेखक ने साधारण पाठक का वहुत वड़ा उपकार किया है। उनके वाक्य इतने चुस्त एवं दुरुस्त हैं कि उनके वारे में यही कहा जा सकता है कि वे एक सधी हुई लेखनी से प्रसूत हैं।

हम लेखक से यह आशा करते हैं कि वह भविष्य में अपनी शोधात्मक प्रज्ञा का अधिकाधिक उपयोग करेगा और जैन-साहित्य के श्रीवर्धन में अपना अमूल्य सहयोग देगा। कुल मिला कर यह पुस्तक एक श्रद्धाशील मानस की गणधर परंपरा के अग्रणी आर्य इन्द्रभूति गौतम को सच्ची श्रद्धांजलि है।



अध्याय ८

मेरे प्रश्न : मुनि श्री के उत्तर

मनुष्य का जीवन इतना रहस्यपूर्ण और अनोखा है कि उसके बारे में अन्तिम रूप से कुछ कहना बहुत कठिन है। संसार के बड़े से बड़े मनोवैज्ञानिक ने भी मानव मन की समस्त जानकारी देने का दावा नहीं किया है। जीवन के उत्थान और पतन में कुछ खास क्षण, आकस्मिक घटनाएँ, अप्रत्याशित मोड़ बड़े महत्वपूर्ण होते हैं। मनुष्य के जीवन का वह क्षण अत्यंत विशिष्ट और सार्थक होता है, जब उसका संपूर्ण अस्तित्व सहसा उजागर हो उठता है। कभी-कभी अत्यंत साधारण सी लगने वाली बात अथवा घटना जीवन के क्रांतिकारी परिवर्तन का कारण बन जाती है। भगवान तथागत के जीवन में आकस्मिक परिवर्तन लाने के पीछे तीन महत्वपूर्ण दृश्य ही तो उत्तरदायी थे। आज का मानव समाज भी उन दृश्यों को यदा-कदा देखता है लेकिन उसके मानस की प्रतिक्रिया उतनी तीव्र नहीं होती जितनी तथागत की थी। आखिर इसका रहस्य, क्या है? सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण सिद्धांत के पीछे क्या वृक्ष से सेब गिरने की घटना ही सब कुछ थी? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं, जिनके बारे में स्पष्ट उत्तर देना संभाव्य नहीं है। फिर भी इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ऐसे क्षण अथवा घटनायें एक प्रबल आघात देती हैं और संपूर्ण मानव अस्तित्व ही प्रश्नों के सलीब पर टाँग दिया जाता है।

श्री गणेश मुनि शास्त्री के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के अनेक आयामों का स्पर्श करने के बाद भी मन में यह जिज्ञासा बनी रही कि क्या एक तेरह वर्ष के बालक के मन में सांसारिक जीवन से विरक्ति की घटना कम आश्चर्यजनक है? इस प्रश्न को जितनी गम्भीरता से सोचता गया, उतनी ही उलझनें बढ़ती गयीं। मन में आया कि इस प्रकार की विरक्ति के पीछे

जरूर कुछ देखे-अनदेखे संस्कारों की भूमिका है। इसी क्रम में यह इच्छा भी जाग्रत हुई कि कुछ बातें अथवा शंकायें उस व्यक्ति के सामने ही क्यों न रख दी जावें जिसको आधार बनाकर इस कृति का निर्माण हो रहा है। यद्यपि संत समाज अपने बारे में विशेषकर अपने व्यक्तिगत जीवन के बारे में सार्वजनिक रूप से कुछ भी कहने अथवा लिखने में सकोच का अनुभव करता है लेकिन मैं अपने को इस अर्थ में भाग्यशाली मानता हूँ कि मुनिजी ने मेरी जिज्ञासाओं की उपेक्षा न करके अनेक समाधान प्रस्तुत किये हैं जो केवल उन्हीं के द्वारा संभव थे। इस अध्याय में ऐसी जिज्ञासाएं मुनिजी के सामने रखी गई हैं जिनका संबंध केवल उनके व्यक्तिगत जीवन से न होकर उनकी रचनात्मक क्षमता, साहित्यिक मान्यताएँ, जैन दर्शन तथा श्रमण के आचरण और व्यवहारों से भी संवद्ध हैं। इसीलिये इस अध्याय को चार उपशीर्षकों में विभक्त कर दिया गया है। पहला शीर्षक जीवन संबंधी प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत करता है, उनके माता-पिता, गुरु, दीक्षा आदि विशिष्ट व्यक्तियों और प्रसंगों की समुचित जानकारी देता है, दूसरे शीर्षक के अंतर्गत धर्म, अध्यात्म, तथा जैन दर्शन संबंधी जिज्ञासाओं का समाधान है। तीसरे विभाग में मुनिजी की साहित्यिक रचनाओं, उनकी साहित्यिक मान्यताओं और रचना प्रक्रिया का उद्‌घाटन है। चौथे तथा अंतिम शीर्षक के अंतर्गत आचरण और व्यवहार संबंधी शंकायें उठायी गयी हैं और साथ ही उनका समाधान भी प्रस्तुत है।

ये जिज्ञासाएँ संभवतः समाधान के निकट न पहुंच पातीं यदि मुनिजी के सुयोग्य और सबसे निकटस्थ शिष्य श्री जिनेंद्र मुनिजी का मुझे सहयोग न प्राप्त हुआ होता। राजस्थान की श्रमसाध्य पदयात्रा के दौरान श्री मुनिजी ने अपने गुरु महाराज से जिस प्रकार समाधान प्राप्त किये वह कम प्रशंसनीय नहीं है। उनके इस अमूल्य सहयोग के लिये लेखक अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता है।

जीवन सम्बन्धी प्रश्न और उनके उत्तर

प्रश्न १—क्या आप अपने माता-पिता, उनके स्वभाव तथा कर्म-क्षेत्र पर

प्रकाश डालने की कृपा करेंगे ? आपके सन्तत्व को लेकर उनकी क्या प्रतिक्रिया रही ?

उत्तर—मेरे-पिताश्री एक अच्छे व्यवसायी तथा मधुर स्वभाव के व्यक्ति थे। ग्राहक उनसे वहुत प्रसन्न रहते थे। गाँव में भी उनका अच्छा प्रभाव और वर्चस्व था, पर नियति इसे सहन न कर सकी और वे वत्तीस वर्ष की अल्पायु में ही संसार से विदा हो गये।

मेरी माता वड़ी साहसी व कर्म-परायण महिला थीं। पिताश्री के वियोग की दारुण घटना को विस्मृत कर वे हमारा पालन-पोषण करने लगीं। वे वहुत अच्छे संस्कारों में पली थीं अतः हमारे जीवन में भी सुन्दर संस्कार डालने की उनके मन में वड़ी प्रवल इच्छा थी। माता जी की असीम अनुकंपा से ही मैं संसार के द्वंद्वों से वचकर मुनिपद की प्राप्ति कर सका हूँ। माता जी आज स्वयं त्याग की प्रतिमूर्ति वनकर संयमी जीवन के दायित्व को वड़े सुचारु रूप से निभा रही हैं। मेरे मुनि वनने के पश्चात् समस्त परिवार में आध्यात्मिक संस्कार काफी सुदृढ वने हैं और मेरे संयमी तथा अनासक्त जीवन से वे अत्यधिक प्रभावित हैं।

प्रश्न २—आपके मानस में वैराग्य की प्रेरणा कहाँ से स्फुरित हुई ? क्या किसी विशिष्ट घटना अथवा व्यक्ति का इसमें योगदान है अथवा आप यह मानते हैं कि पूर्वजन्म के संस्कारों ने आपको इस ओर प्रेरित किया ?

उत्तर—मेरे वैराग्य का मूल वीज है माँ की ममता। पिताश्री के देहावसान के कई वर्ष पश्चात् एक वार मेरे ननिहाल वागपुरा ग्राम में प्रतिभामूर्ति साध्वी श्री प्रभावतीजी ने वर्षावास किया था। उस समय मेरी माता भी वहाँ पर उपस्थित थीं और साध्वीजी के संपर्क में आने से धीरे-धीरे माताजी के हृदय में वैराग्य की भावना आकार ग्रहण करने लगी। एक दिन दृढ़ता के साथ वे दीक्षा-पथ ग्रहण करने के लिये समुद्यत हो उठीं। माता के इस विरक्ति भाव तथा उनके प्रति ममत्व वुद्धि ने मेरे मानस में भी वैराग्य का अभिसंचार कर दिया। वस फिर क्या था ! माता के साथ मैं भी संसार से विरक्त होकर श्रमण वन गया।

यहाँ एक बात मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मेरे वैराग्य का निमित्त माँ का ममत्व अवश्य रहा है किन्तु उपादान तो मेरे अन्दर ही विद्यमान था, तभी तो ऐसा निमित्त मुझे संप्राप्त हुआ। उपादान के अभाव में हजारों निमित्त मिल जाने के बाद भी कुछ भी संभव नहीं होता। प्रारम्भ में साधक का वैराग्य मोहगर्भित या दुःखगर्भित कैसा भी हो किन्तु कालांतर में वही वैराग्य ज्ञानगर्भित हो सकता है, अतः मैं यह नहीं मानता कि माँ की ममता ही मेरे वैराग्य का एकमात्र कारण है।

यह तो मैंने अपने वैराग्य का एक औपचारिक रूप आपके समक्ष रखा है, किन्तु इससे भी बढ़कर मैं पूर्वजन्म के संस्कार तथा सत्पुरुषार्थ में अधिक विश्वास रखता हूँ। मुझे छोड़कर मेरे दूसरे दो भाई व एक बहन भी हैं और वे सभी गृहस्थाश्रम की मर्यादा में बँधे हुए हैं। लेकिन मैं ही साधु क्यों बना? इस संबंध में मेरा कहना यह है कि पूर्वजन्म के संस्कार इस संसार में जीव के साथ उदय रूप में आते हैं और उन्हीं संस्कारों के अनुरूप जीवन ढलता जाता है। अतः मैं जोर देकर यह बात कहना चाहता हूँ कि मेरे पूर्वजन्म के संस्कार व सत्पुरुषार्थ ही मेरे इस वैराग्य पथ पर अग्रसर होने में सर्वाधिक सहायक रहे हैं।

प्रश्न ३—जीवन में महत्वपूर्ण निर्णय के कुछ क्षण होते हैं, क्या आप अपने सांसारिक जीवन से वैराग्य ग्रहण करने के क्षण पर प्रकाश डालेंगे?

उत्तर—जीवन् का सूत्र ही सक्रियता है। सक्रियता कभी अनिर्णीत नहीं होती। निर्णयात्मकता ही बुद्धिमत्ता कहलाती है। बुद्धिमत्ता उपयोगिता से आबद्ध है। उपयोगिता लौकिक और अलौकिक भी होती है।

मैंने संसार से विरक्त जीवन जीने का निर्णय लिया। वह क्षण लौकिक होते हुए भी अलौकिक है क्योंकि अलौकिक क्षण में लिया गया निर्णय दृढ़ और लाभदायक सिद्ध होता है। सभी जानते और मानते हैं कि काल बल भी एक बल है।

यह पूर्ण सत्य है कि विरक्त जीवन से लौकिक मार्ग प्रशस्त न हो तो अलौकिक मार्ग भी अप्रशस्त ही रहेगा। मुझे सांसारिक जीवन में अलौकिकता दृष्टिगत न हुई। मैंने सोचा, क्या युगों से नहीं, अनंत काल से जैसे

जीते आये हैं वैसे ही जीते रहेंगे ? इसी क्षण ने सांसारिक जीवन से विरक्त वनने में मेरी सहायता की और मैं साधु जीवन की ओर मुड़ गया।

प्रश्न ४—आपने साधु जीवन को ही क्यों अंगीकार किया ? संसार के अनेक महापुरुषों ने गृहस्थ जीवन की मर्यादा में रहकर मानव जाति की अनंत सेवायें की हैं, आपने सांसारिक जीवन से हटकर वैराग्य पथ पर आकर क्या पलायन वादी मनोवृत्ति का परिचय नहीं दिया है ?

उत्तर—मेरी मान्यता है कि गृहस्थ जीवन में रहकर मानव जाति की जितनी सेवायें संभव हैं उससे भी अधिक और व्यवस्थित सेवायें श्रमण वनकर की जा सकती हैं। श्रमण वनने का अर्थ उत्तरदायित्व से भागना नहीं हैं, वलिक उत्तरदायित्व को भलीभाँति निभाने की क्षमता वाला व्यक्ति ही श्रमण वनता है। श्रमण वनने पर सामाजिक, धार्मिक सेवाओं का उत्तर-दायित्व वढ़ता है, घटता नहीं।

प्रश्न ५—आपने गुरु दीक्षा किस अवस्था में प्राप्त की ? आपके सम्मान्य गुरु के किस विशिष्ट गुण ने आपको सर्वाधिक आकृष्ट किया है ? आपको साधना मार्ग पर अग्रसर करने में उनका किस सीमा तक योगदान है ?

उत्तर—तेरह वर्ष की छोटी उम्र में ही मैंने दीक्षा स्वीकार कर ली थी। मेरे गुरुदेव का नाम है—राजस्थानकेसरी पंडितरत्न परम श्रद्धेय श्री पुष्कर मुनिजी महाराज। आप स्थानकवासी मुनि समाज में अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। प्रखरवक्ता, चिंतक, आगम के गहन अभ्यासी, प्रचारक तथा इससे भी वढ़कर वे एक सच्चे आत्मशोधक एवं आत्मसाधक हैं। गुरुदेव श्री की कृपा मुझ पर अनवरत रूप से वनी रही है और यह उनकी मंगल कामना का ही परिणाम है कि मैं आत्मसाधना के साथ-साथ लोक सेवा तथा साहित्य साधना में भी गतिशील हूँ। गुरुदेव श्री की सांस्कृतिक व आध्यात्मिक उच्च स्तरीय मनोभूमिका से मैं अनुप्रेरित हूँ। दीपशिखा-सा उनका ज्योतिर्मय व्यक्तित्व सर्वत्र उजागर है।

प्रश्न ६—"विनु गुरु कृपा ज्ञान नहिं उपजै"—ऐसा मध्यकालीन संतों का सामान्य विश्वास था। कवीर जैसे परंपरा-भंजक और क्रांतिकारी व्यक्तित्व को भी सद्गुरु की शरण में जाना पड़ा था। आपकी इस संदर्भ में क्या मान्यता है ?

उत्तर—मैं इससे पूर्ण सहमत हूँ कि जिससे ज्ञान पाया हो उसके प्रति पूर्ण सम्मान दिखलाया जाये। 'गुरु कृपा' से मेरा आशय—गुरु का सहयोग, गुरु का निर्देशन भी है जिससे सहयोग और निर्देशन मिला हो उसे शिक्षक, गुरु, निर्देशक, सहायक क्यों न माना जाये ?

यह सच है कि सूर्य प्रकाश देता है, पर देखेगा वही जिसके नेत्र ज्योतिष्मान हैं। गुरु ज्ञान देते हैं, पर मिलेगा उसी को, जिसमें उसकी पात्रता हो अर्थात् बुद्धिमान हो।

क्या वर्तमान किसी का आभार नहीं मानता ? क्या अतीत की कृपा के विना वर्तमान ज्ञानमय हो सकता है ? अतीत यदि भविष्य को अज्ञानी रखना चाहता तो अपना सारा ज्ञान कोष जला डालता। वर्तमान का सौभाग्य कहिये या अतीत की कृपा जिससे अतीत की अनुभूत संग्रहीत सुरक्षित ज्ञानराशि वर्तमान को सुलभ हो गई।

जिस विषय में हम आगे बढ़ना चाहते हैं उस विषय के विद्वान की खोज करना ही गुरु की तलाश है। एक भी ऐसा कार्य ध्यान में नहीं आता है जो गुरु कृपा के विना संपन्न हो रहा हो। तद्विषयक ग्रन्थों का अध्ययन, चिंतन और मनन भी गुरुकृपा का फल मानना चाहिये।

प्रश्न ७—आप अपने साधु जीवन के उन विशिष्ट प्रसंगों अथवा घटनाओं का परिचय दीजिये जिन्होंने आपके मन पर अमिट छाप डाली है।

उत्तर—वैसे तो यह संसार अनेकानेक विचित्र घटनाओं का केन्द्र स्थल है। स्वर्ग नरक आदि सभी का प्रत्यक्षीकरण मानव स्वयं इस धरा पर कर रहा है किन्तु कभी-कभी ऐसी घटना तथा प्रसंग उपस्थित हो जाते हैं जिनको मनुष्य जीवन भर विस्मृत नहीं कर पाता। मेरे साधु जीवन के ऐसे अनेक प्रसंग हैं, लेकिन सबको समुचित रूप से कह पाना मेरे लिये यहाँ संभव नहीं। फिर भी एक-दो प्रसंग आपके समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ, जिन्होंने मेरे मन व मस्तिष्क को कुछ क्षणों के लिये आंदोलित किया था।

एक बार मैं अपने साथी शिष्यों के साथ बीहड़ वन से होकर गुजर रहा था। कुछ भक्त—श्रद्धालु जन भी मेरे साथ थे। मंथर गति से हम

चले जा रहे थे कि एकाएक सिंह गर्जना सुनाई दी। इस गर्जना से सारा वनखंड काँप उठा। मेरे संगी-साथी घबड़ा गये और कुछ को तो पसीना छूटने लगा। मैंने धैर्य देते हुए कहा—घबड़ाइये नहीं, आप लोग शांति से मेरे पीछे-पीछे चलते आइये। कुछ और आगे बढ़े ही थे कि इतने ही में झाड़ियों के पीछे से एक सिंह हमारे दाँयी ओर से बाँयी ओर निकल गया। हम सब दो क्षणों के लिये स्तंभित रह गये और आँखें बंद कर अपने इष्ट-देव का स्मरण करने लगे। कुछ समय के बाद जब हमने आँखें खोलीं, तो सिंह काफी दूर जाता दिखाई पड़ा। सभी ने शांति की साँस ली। मैंने अपने साथियों से कहा - देखिये ! अहिंसक व आत्मबली व्यक्ति का हिंसक और क्रूर प्राणी भी कुछ नहीं बिगाड़ सकता। इसके बाद हम अदम्य उत्साह के साथ अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते गये।

एक स्थान पर मेरा चातुर्मास था। मैं प्रवचन कर रहा था। पर्यू-षणपर्व के पावन दिन चल रहे थे अतः जनता की अपार भीड़ चल थी। प्रवचन के मध्य में एक भाई ने मुझ से एक प्रश्न पूछा—"गुरुदेव ! यदि संसार के सभी मनुष्य दीक्षा ले लें अर्थात् साधु बन जायें तो उन्हें आहार कौन देगा।" मैंने उस भाई से कहा—"जब ऐसा हो जायेगा तो समझो इस धरती पर जितने भी वृक्ष हैं उन वृक्षों के सभी पत्ते रोटी बन जायेंगे।" यह सुनकर वह भाई बोला—"ऐसा कभी हो सकता है क्या गुरुदेव ?" मैंने कहा—"ऐसा नहीं हो सकता तो यह कैसे संभव है कि सबके सब मनुष्य साधु बन बन जावें।" उत्तर सुनकर जनता खिलखिलाकर हँस पड़ी।

धर्म, अध्यात्म और जैन-दर्शन संबंधी प्रश्न

प्रश्न ८—धर्म और विज्ञान की मूल दृष्टि में क्या अन्तर है ? आप धर्म की उपयोगिता विज्ञान से बढ़कर क्यों मानते हैं ?

उत्तर—धर्म की दृष्टि आत्मवाद को प्रमुखता देती है और विज्ञान भौतिकवाद के अलावा कुछ देखता नहीं। मैं विज्ञान से अधिक धर्म की उपयोगिता इसलिये स्वीकार करता हूँ क्योंकि धर्म जीवननिर्माण में सहा-यता देता है और ध्वंसात्मक प्रवृत्तियों को रोकता है। विज्ञान ने प्रगति के

नाम पर ऐसे अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण कर डाला है, जिससे समग्र मानव-जाति को ही खतरा उत्पन्न हो गया है। इससे बढ़कर धर्म और विज्ञान में क्या अन्तर हो सकता है।

प्रश्न ९—जैन धर्म में अहिंसा को परम धर्म के रूप में स्वीकृति मिली है। क्या अहिंसा के संबंध में आप कोई अपनी मौलिक दृष्टि रखते हैं ?

उत्तर—मैं सोचता और चाहता हूँ कि अहिंसा की प्रयोगभूमि सारा जीवन क्षेत्र हो। हमारी दृष्टि और वृत्ति अहिंसक होने पर ऐसा कौनसा कार्य है जो अहिंसा से संपन्न न हो सकता हो। उदाहरणार्थ लकड़ी जलाने से पूर्व उसे इसलिये देखा जाय कि इसमें कहीं कीड़े तो नहीं ? यदि हैं तो उन्हें दूर करके फिर जलाऊँ। ऐसा सोचना अहिंसा का सूक्ष्म चिंतन है। कीड़ों का बचाव करना प्राणियों पर दया है। ऐसी दृष्टि और वृत्ति के समक्ष आत्मसमत्व का आदर्श उपस्थित रहता है।

प्रश्न १०—जैन धर्म की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि क्या है ? आधुनिक मानव को जैन धर्म का क्या संदेश है ?

उत्तर—जैन धर्म की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि अनेकांतवाद और अपरिग्रहवाद है। अनेकांतवाद के बिना चिंतन का समन्वय और अपरिग्रहवाद के बिना समाजवाद की स्थापना असंभव है। आधुनिक मानव के चिंतन में अनाग्रह और जीवन में अपरिग्रह का स्थान हो। इस संदेश में संपूर्ण मानवजाति का हित सन्निहित है।

प्रश्न ११—जैन धर्म की नूतन व्याख्याओं से आप कहाँ तक सहमत हैं ? उदाहरणार्थ आचार्य रजनीश ने परंपरागत चिंतन को छोड़कर जैन धर्म के संबंध में नये सिरे से विचार किया। आप इस प्रकार की नवीनता के कहाँ तक पक्षपाती हैं।

उत्तर—मैं नये चिंतन और नयी व्याख्याओं से वहीं तक सहमत हूँ जहाँ तक व्याख्यायें सूत्रों (आगमों) का स्पर्श न छोड़ें और चिंतन जैन धर्म की मूल भावनाओं को। चिंतन के द्वार प्रत्येक युग में खुले रहने चाहिये। मैं मानता हूँ कि जैन धर्म के अनन्त ज्ञान पर चिंतन के लिये भी अनन्त अवकाश है।

प्रश्न १२—जैन धर्म पर अन्य धर्मों का प्रभाव किस सीमा तक पड़ा है? क्या जैन धर्म ने भी अन्य धर्मों को प्रभावित किया है?

उत्तर—समसामयिक सभी धर्मों पर एक दूसरे की अल्पाधिक प्रभाव पड़ता ही है। इस नियम से जैन धर्म ने अन्य धर्मों पर प्रभाव डाला हो और स्वयं भी अन्य धर्मों से प्रभावित हुआ हो, ऐसा मानने में संकोच नहीं होना चाहिये।

प्रश्न १३—धर्म कोई शाश्वत जीवनपद्धति है या परिवर्तनशील युग के अनुकूल उसका भी चेहरा बदलता रहता है। क्या जैनधर्म की मान्यताओं में भी युगानुकूल परिवर्तन हुए हैं। इस परिवर्तन की दिशा क्या है?

उत्तर—जैन धर्म का दार्शनिक चिंतन एक शाश्वत पद्धति है और आचार-व्यवहार परिवर्तनशील है। आचार और व्यवहार युगीन वातावरण पर आधारित होते हैं। जैन धर्म ने अपने आचारों में उतना परिवर्तन मान्य किया है जो विकास में गतिशीलता प्रदान करने वाला हो।

प्रश्न १४—भगवान् महावीर का २५०० वाँ निर्वाण महोत्सव समारोह सम्पन्न करने के प्रश्न को लेकर जैन समाज में खुलकर मतभेद प्रगट हो रहे हैं। इन मतभेदों का मूल कारण क्या है?

उत्तर—भगवान महावीर की २५०० वीं निर्वाण शताब्दी मनाने के लिये जो समितियाँ गठित की गईं उनमें सभी सम्प्रदायों के प्रमुख व्यक्तियों को सम्मिलित किया गया है। मैं नहीं जानता कि विरोध करने वालों का समाज में अपना कितना स्थान है। हाँ! ऐसा होता आया है कि विरोधी स्वर ऊँचा करने से उनका नाम विश्रुत हो जाता है। अन्य कारणों के साथ इस कारण का होना भी कोई बड़ी बात नहीं।

प्रश्न १५—जैनधर्म के आधुनिक आचार्यों में सबसे अधिक योगदान किस आचार्य का है? उनके द्वारा जैन-धर्म को कौन-सी नूतन दृष्टि मिली है?

उत्तर—आधुनिक आचार्यों में सबसे अधिक योगदान किस आचार्य का है, इस पर निर्णय देना मेरा कार्य नहीं। हाँ, मैं यह निर्णय दे सकता हूँ कि जिन्होंने अपना अल्पाधिक योगदान दिया है अर्थात् जिनके द्वारा

नूतन दृष्टियाँ, नई दिशायें, नये उन्मेष, नये मार्ग प्रशस्त हुए हैं, वे आचार्य, मुनि, श्रमणोपासक, सद्गृहस्थ, विद्वान सारे ही अभिनन्दन के पात्र हैं।

प्रश्न १६—क्या भविष्य में जैन-धर्म को भौतिक मूल्यों से किसी प्रकार से खतरे की आशंका है ? यदि हाँ तो उससे बचने का क्या उपाय है ?

उत्तर—भौतिक मूल्यों से जैन-धर्म को खतरा हो और उससे बचने का क्या उपाय हो ऐसा विचार भी क्यों करना चाहिये ? क्या पुद्गलों से चैतन्य को खतरा हुआ है ? क्या अन्धकार से प्रकाश को खतरा हुआ है ? मेरी दृष्टि में सभी पदार्थ स्वतन्त्र हैं। वे अपने-अपने क्षेत्र में महत्वपूर्ण हैं। सारे पदार्थों का विकास और ह्रास उनके अपने स्कंधों पर है। किसी से भयभीत होने की क्या आवश्यकता है।

प्रश्न १७—जिस प्रकार हिन्दू-धर्म अनेक शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त है, उसी प्रकार जैन-धर्म भी। क्या इस प्रकार के विभाजन से धार्मिक विकास की गति अवरुद्ध नहीं होती ? क्या आप इनके बीच पारस्परिक सद्भाव तथा एकता का कोई मार्ग देखते हैं ?

उत्तर—ऐसा कोई भी धर्म या सम्प्रदाय दृष्टिगत नहीं होता, जिसमें मत-मतान्तर न हो। मेरा अपना विचार है कि शाखा-प्रशाखाओं से वृक्ष का विकास अवरुद्ध नहीं होता वल्कि वढ़ता है। मत-मतान्तरों में क्या धर्म के मूल को हानि पहुँचाने वाला कार्य किया है ? मत-मतान्तर ही एक प्रकार का विकास है। ऐसा मानने में अनौचित्य भी क्या है ?

प्रश्न १८—जैन-धर्म में अहिंसा का क्या रूप रहा है ? संक्षेप में उस पर प्रकाश डालिये।

उत्तर—यद्यपि संसार के जितने भी आस्तिक दर्शन हैं, उन सभी ने अहिंसा तत्व को स्वीकार किया है, पर जैन दर्शन ने अहिंसा के सम्बन्ध में वहुत सूक्ष्मता से चिन्तन किया है। जैन दर्शन की अहिंसा कहती है—संसार के छोटे-वड़े सभी जीवों के प्रति समभाव की दृष्टि रखें। उन्हें अपनी आत्मा की तरह समझें। तुम जिस प्रकार जीने का अधिकार रखते हो, उसी तरह अन्य प्राणी भी जीने का अधिकार रखते हैं। फिर उन्हें मारने या उन्हें दुःख देने का तुम्हें क्या हक है ?

साथ ही यह भी सोचो कि जिन्हें तुम दुःख देना चाहते हो वह दूसरा कोई नहीं है, तुम स्वयं ही हो अर्थात् तुम दूसरों की आत्मा को दुःख देने की इच्छा करके अपनी आत्मा को ही दुःखी बनाते हो।

इस प्रकार जैन दर्शन की अहिंसा विश्व के समस्त प्राणिमात्र के प्रति अपनी करुणाजन्य अमृत दृष्टि का वर्षण करके विश्वमैत्री का मंगलमय पाठ पढ़ाती है।

प्रश्न १९—क्या जैनदर्शन साम्यवादी दर्शन है ? और है तो क्यों है ? इसका कारण स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—साम्यवाद जैन दर्शन की एक प्रमुख विशेषता है। साम्यवाद कहता है—सब जीवों पर समदृष्टि रखें। आत्मविकास या मोक्ष का सम्बन्ध आत्मा से है, न कि जाति-पाँति से जाति-पाँति से जैनदर्शन शुरू से ही अलग-थलग रहा है। ऐसी स्थिति में वह यह नहीं कहता कि अमुक व्यक्ति, वेशविन्यास अथवा अमुक कर्मकांड के पालन में मोक्ष है। बल्कि वह कहता है—प्रत्येक व्यक्ति को आत्मसाधना या धर्माचरण करने का पूर्ण अधिकार है। फिर भले वह कोई ब्राह्मण हो या चाण्डाल। जाति या कुल विशेष में पैदा होने मात्र से कोई धर्म का अधिकारी अनाधिकारी नहीं बन सकता।

भगवान महावीर के पास दीक्षित होने हेतु गौतम जैसे प्रकांड विद्वान ब्राह्मण भी आये तो दर-दर भटकने वाले हरिकेशी जैसे चांडाल भी आये। किन्तु प्रभु के दरबार में दोनों को समान अधिकार मिला। मुक्तिपथ में कोई सम्प्रदाय, लिंग अथवा वेश बाधक नहीं बनता। जो व्यक्ति रागद्वेष रूप कषाय को जीत लेता है वही मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

प्रश्न २०—जैन-दर्शन का मुख्य ध्येय क्या है ?

उत्तर—जैन-दर्शन का मुख्य ध्येय है—कर्मजन्य अज्ञानता को मिटाना और आत्मा में स्थित अनन्त गुणों का पूर्ण विकास करना। आत्मा

अनन्त शक्तिमान है किन्तु उस शक्ति को वह भूली हुई है। इसलिए अनन्त शक्ति की धनी होते हुए भी आत्मा अपने को दीन-हीन समझ बैठी है तथा कीड़े की तरह रेंग रही है। उसकी इस दुर्बलता को मिटाने के लिए ही जैन-दर्शन उसे जागृति का सतत सन्देश देता रहा है।

प्रश्न २१—जैन दर्शन में कर्मवाद को अधिक महत्व दिया है। इसका क्या कारण है? कर्म उपार्जन या क्षय करने में क्या ईश्वर का भी कुछ योगदान रहता है?

उत्तर—जैन दर्शन के अनुसार मनुष्य स्वयं ही कर्म का कर्त्ता और भोक्ता है। यदि मनुष्य हिंसा, चोरी, व्यभिचार आदि दुष्कर्म करता है तो नरक अथवा नीच गति में जाकर दुःख उठाता है और यदि वह दया, शील, संतोष आदि सद्गुण अपनाता है, तो मनुष्य या देवगति प्राप्त-कर सांसारिक सुखों का उपभोग करता है। यदि वह शुभाशुभ अर्थात् पाप और पुण्य जो कि मोक्ष के लिये बाधक है, इन दोनों कर्मों को क्षय कर देता है तो वह परमात्मपद की संप्राप्ति कर लेता है। कर्मो के उपार्जन व उसके क्षय (नष्ट) में ईश्वर का आश्रय लेने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि जैन दर्शन ईश्वर को कर्ता-धर्ता नहीं मानता। जो कुछ करता है वह मानव ही करता है और कर्म उसका संचालक है।

ईश्वर पर आश्रित रहने से मानव में अकर्मण्यता की दशा आ जाती है और यह अकर्मण्यता मानव को सत्यहीन बना देती है। मानव सोचने लगता है कि मैं कुछ नहीं कर सकता, जो कुछ करता है वह ईश्वर ही करता है और ईश्वर ही करेगा। इस अकर्मण्यता के पथ से हटाकर पुरुषार्थ की ओर प्रेरणा देने के लिए जैन दर्शन का कर्मवाद अतीव उपयोगी है। कर्मवाद जैन दर्शन की मौलिक संपत्ति है।

साहित्य सम्बन्धी प्रश्न

प्रश्न २२—आपकी रचनात्मक प्रतिभा का मूल स्रोत क्या है? क्या प्रतिभा को अलौकिक सूत्रों से संचालित मानते हैं अथवा युग-जीवन के अनुभवों से यह स्फुरित होती है?

उत्तर—मैं नहीं मानता कि प्रतिभा को संचालन करने वाले भी कोई अन्य सूत्र होते हैं। प्रतिभा स्वयं संचालित सूत्र है। प्रतिभा अपने ही अनुभवों के आधार पर नये युग का निर्माण करती है। प्रतिभा को किसी अन्य से संचालित मान लेने पर वह जड़ हो जाएगी, सोचने और समझने की स्वतंत्र शक्ति नष्ट हो जायेगी।

केवल नई कृतियों को ही नई रचना मानना भूल होगी। सारा जीवन ही रचनात्मक कार्य है। पुरानी मान्यताएँ ढह जाने पर ही नई धारणाएँ स्थान पाती हैं। नए युग के नये अनुभव न हों तो प्रतिभा को चमकने का आधार ही क्या होगा? मेरी प्रतिभा जीवन निर्माण में लगी रहती है। हमेशा निर्माण की गति धीमी होती है। मिटाने में नहीं बनाने में समय चाहिए। प्रत्येक प्रतिभा के विकास हेतु अनुकूल परिस्थितियों की आवश्यकता है।

प्रश्न २३—साहित्य रचना की प्रारंभिक प्रेरणा आपको कहाँ से और किनसे मिली? आप क्या सफल गद्य लेखक की तुलना में सशक्त होना अधिक सुखकर मानते हैं?

उत्तर—साहित्य ही साहित्यरचना की प्रेरणा देता है। साहित्य वह होता है जो हित से सहित हो। बिना साहित्य के ज्ञान और अनुभव को स्थिर रखने का साधन ही क्या है? साहित्य गद्य हो या पद्य। साहित्य की भाषा और लिपि भिन्न-भिन्न होती है। और आत्मा अभिन्न है। विचार एवं भावोर्मियों को पकड़ना और उसे अभिव्यक्ति देना साहित्य-रचना है। मैं गद्य और पद्य दोनों का ही प्रेमी हूँ। दोनों ही प्रकार का साहित्य मैंने पढ़ा और रचा है। हाँ इतना अवश्य है कि गद्य से पद्य का प्रभाव अधिक पड़ता है, क्योंकि इसमें संगीतात्मकता है।

प्रश्न २४—आपकी दृष्टि में साहित्य का प्रयोजन क्या है? क्या साहित्य का प्रयोजन पाठक को आनंदानुभूति में डुबो देना है? अथवा साहित्य लोकमंगल की कामना का माध्यम है?

उत्तर—जिस साहित्य का दृष्टिकोण लोकमंगल की साधना है वह

पाठक को आनंदानुभूति भी देता है। यदि ऐसा न हो तो उसे कौन पढ़ेगा, कौन सुनेगा, कौन अपनाएगा ?

जिस साहित्य का दृष्टिकोण केवल आनंदानुभूति ही है वह अमंगल और घृणा भी उपजा सकता है। केवल आनंदानुभूति समय-वय और तत्कालीन विचारों से सम्वधित है। मंगलाकांक्षी मानस ही सत्साहित्य के प्रति श्रद्धाशील होता है। लोकमंगल की भावना से रहित आनंद का ही दूसरा नाम स्वार्थ है। इसलिए मेरा और मेरे साहित्य का दृष्टिकोण लोकमंगल की भावना ही है।

प्रश्न २५—आपकी दृष्टि में कवि और संत के व्यक्तित्व में मूलभूत अंतर क्या है ? क्या दोनों अपने-अपने क्षेत्र के विशिष्ट साधक हैं ?

उत्तर—कवि की काव्याराधना और संत की आत्माराधना लोककल्याणकारी हो तो दोनों में कोई अंतर नहीं।

कवि की कविता और संत की साधना जगत को भूलभुलैया में डालने वाली है तो दोनों में कोई अंतर नहीं।

जीवन को ऊँचा उठाने के लिए कवि अपने स्वरों को तेज करता है और संत अपनी साधना को।

मैं चाहता और सोचता हूँ कि कवि संत हों और संत कवि हों। हाँ संत कवि न हो, तो कोई बात नहीं परन्तु कवि का संत होना अत्यंत अपेक्षित है, क्योंकि असंत कवियों ने ही तो अश्लील साहित्य को जन्म दिया है, संभव है, ऐसा करते समय उनके समक्ष कोई विशेष प्रकार का स्वार्थ भी रहा हो।

प्रश्न २६—आपकी साहित्यिक रचना का मुख्य क्षेत्र अध्यात्म रहा है। आध्यात्मिक विषयों के अतिरिक्त शुद्ध साहित्यिक रचना की भी क्या कोई योजना आपके मन में है ?

उत्तर—मैं अध्यात्मप्रधान रचना को ही शुद्ध साहित्यिक रचना मानता हूँ। मेरे मन में ऐसी कोई योजना नहीं है जो अध्यात्मविहीन साहित्य-सर्जन की भित्ति हो।

प्रश्न २७—आप अपनी सबसे महत्वपूर्ण कृति किसे मानते हैं और क्यों ? क्या कृति को लिखकर आप चरम संतोष का अनुभव करते हैं ? आपकी मूलवृत्ति अनुसंधान में रमती है या मौलिक सर्जना में ?

उत्तर—मेरी एक भी रचना ऐसी नहीं है जिसने मुझे संतोष न दिया हो। चरम संतोष का अनुभव तो लेखक को होता ही नहीं। यदि अच्छाई का अंत आ जायेगा तो संतोष की भी सीमा हो जाएगी। रचयिता को संतुष्ट करके ही रचना पाठक के पास पहुँचा करती है।

मौलिक सर्जन करने वाले को अनुसंधान अप्रिय हो, यह आवश्यक नहीं। अनुसंधायक की अपेक्षा विधाता बनना ही मुझे पसंद है।

प्रश्न २८—आपके अध्ययन की प्रमुख दिशा क्या है ? आध्यात्मिक विषयों के अतिरिक्त आप अन्य किन विषयों में रुचि रखते हैं ?

उत्तर—मुझे प्रत्येक विषय का अध्ययन रुचिकर है। अधिक रुचिकर यह है कि वाङ्मय पर अध्यात्म का पुट हो।

मैं अध्यात्म का ही विचारक और प्रचारक हूँ। न मेरे कानों ने सुनना बंद किया है, न मेरी आंखों ने देखना। न मेरी प्रतिभा ने अध्ययन बंद किया है न मेरे मन ने सोचना। मेरा कर्त्तव्य है कि सुनकर, पढ़कर, देखकर, सोचकर अध्यात्म की ओर मुडूं और मोडूं।

प्रश्न २९—आज के भौतिकवादी युग में आध्यात्मिक साहित्य की क्या सार्थकता है ? क्या इसके द्वारा मानव जाति को नये भविष्य के निर्माण में सहायता मिल सकती है ?

उत्तर—प्रत्येक युग में दोनों धाराएँ प्रवाहित होती रही हैं। न तो ऐसा कभी हुआ न होगा कि युगमात्र आध्यात्मिक या भौतिक हो। भौतिकता बाह्य साधनों का निर्माण करती है और आध्यात्मिकता मानव के चरित्र का।

जैसे भवन-निर्माण में प्रथम और सुदृढ़ अपेक्षा नींव के पत्थर की है वैसी ही मानव के जीवन निर्माण में आध्यात्मिकता की अपेक्षा थी, है और होगी।

क्या भौतिकतावादी युग में चरित्र का मूल्य नहीं है? क्या प्रामाणिकता से भौतिकता नष्ट हो जाती है? कोई भी वाद का प्रचार या प्रसार क्यों न हो आध्यात्मिकता तो रहेगी ही। भारतीय संस्कृति में से यदि आध्यात्मिकता को अलग कर दिया जाय तो क्या वह प्राणविहीन न हो जायेगी?

मेरा ख्याल है कि निर्माण में ईंट और चूने के समान आध्यात्मिकता और भौतिकता दोनों का स्थान है।

प्रश्न ३०—आप प्रवचन और लेखन इन दोनों ही माध्यमों से विस्तृत जन समाज को संबोधित करते हैं। वाणी और लेखनी में आप किसे अधिक प्रभावशाली और सक्रिय माध्यम मानते हैं?

उत्तर—मैं प्रवचन की अपेक्षा लेखन को इसलिये सशक्त मानता हूँ कि प्रवचन का लाभ केवल उपस्थित जन-समुदाय ही ले सकता है और लेखन से दूर स्थित लोग भी लाभान्वित होते हैं।

यदि प्रवचन से ही ज्ञान का आदान-प्रदान होता रहता तो हमारे पास ग्रंथागार और ज्ञानभंडार न होते। लेखन-कला ने ही ज्ञान को युग से युगांतर और स्थान से स्थानांतर किया है।

आचरण सम्बन्धी प्रश्न

प्रश्न ३१—कर्मबंध और उसके हेतु क्या हैं? इस पर कुछ प्रकाश डालने की कृपा करें।

उत्तर—अनंतकाल से आत्मा संसार में परिभ्रमण कर रही है। जिसका मूल कारण है—कर्म-परमाणुओं का बंध। और राग-द्वेष इस बंध के मूल हेतु हैं। जब तक इन कारणों की अवस्थिति बनी रहेगी तब तक आत्मा संसार चक्र में घूमती रहेगी और जब राग-द्वेष का संयोग नष्ट जायेगा तब यह आत्मा अपने निज स्वरूप में अवस्थित हो जायेगी अर्थात् आत्मा सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेगी। फिर इस आत्मा को न जन्म लेना होगा और न मरना ही। शाश्वत सुख में वह लीन हो जायेगी।

प्रश्न ३२—मोक्ष से आप क्या अर्थ लेते हैं ? जीव को उसकी प्राप्ति किस स्थिति में हो सकती है ?

उत्तर—मोक्ष का अर्थ है —मुक्त होना। जो जीव कर्मशृंखला से अनंतकाल से आबद्ध है उससे पृथक् हो जाना ही मोक्ष है। जैनदर्शन में कर्म आठ माने गये हैं—ज्ञानावरणीय कर्म, दर्शनावरणीय कर्म, वेदनीय कर्म, मोहनीय कर्म, आयुष्य कर्म, नाम कर्म, गोत्रकर्म और अंतराय कर्म। जीव जब इन आठ कर्मों का सर्वथा क्षय कर लेता है तब वह सिद्ध-बुद्ध और मुक्त कहलाता है और यह सिद्ध अवस्था ही मोक्ष है। संवर-निर्जरा-धर्म इसका साधन है।

प्रश्न ३३—आत्मा के सम्बन्ध में आप अपने कुछ विचार अभिव्यक्त कीजिये। क्या आप परलोक को मानते हैं ?

उत्तर—जैनदर्शन की मान्यता के अनुसार आत्माएँ (जीव) अनन्त हैं। स्वरूप की दृष्टि से भले ही "एगे आया" आत्मा को एक कहा है पर, पर्यायार्थिक दृष्टि से वे अनन्त हैं। वे असंख्यात प्रदेशी अरूपी (निराकार), देहप्रमाण तथा ज्ञानादि गुणों से युक्त हैं। कर्म के कर्त्ता और भोक्ता भी वे स्वयं हैं, इसमें ईश्वर आदि किसी का भी योगदान नहीं है, कर्म प्रधान है।

परलोक के अस्तित्व के बारे में अब तक कई भ्रांतियाँ चलती रही हैं, किंतु इस अनुसंधान के युग में वे अब निर्मूल हो चुकी हैं। जन्मान्तर की कई घटनायें व उदाहरण संसार के समक्ष आ चुके हैं। जिससे किसी को भी इस संदर्भ में संशयग्रस्त रहने की आवश्यकता नहीं। विश्व के जितने भी दर्शन हैं उनमें एक चार्वाक (नास्तिक) दर्शन को छोड़कर सभी परलोक एवं पुनर्जन्म स्वीकार करते हैं। जैन दर्शन तो आस्तिक दर्शन ठहरा, फिर वह परलोक क्यों नहीं स्वीकार करेगा। पूर्व जन्म के शुभाशुभ कर्म का ही तो फल है कि एक जीव सुखी है, दूसरा दुःखी है। एक ज्ञानी है, दूसरा अज्ञानी है। यदि परलोक की सत्ता नहीं होती तो यह भेद-रूपांतर क्यों दिखलाई देता ? अतः जैन दर्शन परलोक में पूर्ण विश्वास रखता है।

यदि आप इस संबंध में विशेष जानकारी प्राप्त करना चाहें तो गोरखपुर से निकलने वाले कल्याण पत्र का 'परलोक विशेषांक' देख सकते हैं।

प्रश्न २४—क्या जैनधर्म में हर व्यक्ति को दीक्षित होने का अधिकार है ?

उत्तर—जैनधर्म भावना प्रधान धर्म है। यह जाति, कुल, देश, वेष या अन्य वाह्य क्रियाकांड में विशेष कोई विश्वास नहीं रखता। पवित्र भावना रखने वाला व्यक्ति, वह चाहे किसी भी जाति, धर्म, सम्प्रदाय का क्यों न हो, उसके लिये कल्याण का पथ प्रशस्त है। वह मोक्ष का अधिकारी है। ऐसी दशा में वह जैन मुनि-दीक्षा भी स्वीकार कर सकता है।



अध्याय ६

उपसंहारात्मक : एक दृष्टि

नभ के विस्तृत प्रांगण में उदित सप्तरंगी इन्द्रधनुष कितना आकर्षक और मोहक होता है, किन्तु उसके आकर्षण का सम्पूर्ण रहस्य क्या वाणी के द्वारा अभिव्यक्त हो सकता है ? पर्वत के वक्षस्थल को तोड़ कर प्रवाहित होने वाली सरिता का कल-कल नाद कितना मधुर होता है, किन्तु क्या उसे शब्दों की सीमा में पूर्णतया प्रकट किया जा सकता है ? स्वर्णिम प्रभात की मांगलिक वेला में भुवन भास्कर की अरुणिमा कितनी हर्षदायक होती है किन्तु क्या उस अरुणिमा से निःसृत होने वाली ज्योति-किरणों की गणना संभव है ? श्री गणेश मुनि जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर लिखते समय मुझे हर क्षण ऐसा अनुभव होता रहा है कि उनकी साधना तो शब्दातीत है, अतः उसे शब्दों की शृंखला में आवद्ध करना कहाँ तक न्यायसंगत है ? अविराम साधक की शाश्वत साधना को लिपिवद्ध करना जितना कठिन है उससे अधिक कठिन उस साधना को पूर्णविराम देना है। गत दो वर्षों से जिस जीवंत व्यक्तित्व को शब्दों के घेरे में आकार देने का प्रयत्न कर रहा हूँ वह इतना वहुमुखी है कि उसको सम्पूर्णता में अंकित कर देने की घोषणा करना झूठे अहं को तुष्ट करना है। ऐसे साधक के संवंध में लिखी गई हर कृति अधूरी होती है और उसके निष्कर्ष भी अधूरे होते हैं, अतः उपसंहार की सार्थकता भी संदिग्ध होती है। सतत जागरूक और प्रवहमान व्यक्तित्व देश और काल की सीमाओं से परे होते हैं।

विश्वप्रसिद्ध नाटककार विलियम शेक्सपियर ने एक स्थल पर मनुष्य की महानता की तीन श्रेणियाँ निर्धारित की हैं। उनके मत से कुछ लोग जन्म से ही महान होते हैं, अर्थात् उनकी वंश-परंपरा और परिवेश इतने विशिष्ट होते हैं कि उन्हें महानता के लिये किसी प्रकार के प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती। ऐसे भाग्यशाली पुरुष संसार में वहुत

कम हैं। दूसरी श्रेणी में वे लोग आते हैं जो महानता को दीर्घ साधना एवं बलिदान से अर्जित करते हैं, संसार के अधिकांश महापुरुषों की महानता अर्जित है और उनके दीर्घ प्रयासों के बाद प्राप्त हुई है। तीसरी श्रेणी उन व्यक्तियों की है जो वास्तविक रूप से महान नहीं होते अपितु परिस्थिति एवं अवसर की अनुकूलता से वरवस महानता के अधिकारी वन जाते हैं। यह महानता क्षणिक होती है और इसका प्रभाव कभी भी समाप्त हो जाने का भय वना रहता है। गणेश मुनि जी के गौरवशाली व्यक्तित्व की महानता स्वतः निर्मित और अर्जित है। ज्ञान, भक्ति एवं कर्म की सतत साधना के द्वारा उन्होंने महानता के जिस शिखर का स्पर्श किया है, वह उनके पुरुषार्थ, त्याग एवं वलिदान का द्योतक है। ऐसे व्यक्तित्व अवश्य ही वंदनीय होते हैं जो भव-सागर की मायावी लहरों पर संतरण कर आलोक पथ पर साहस के साथ कदम वढ़ाते है। एक सामान्य किन्तु सुसंस्कृत परिवार में जन्म लेकर उन्होंने साधना के जिन सोपानों पर आरोहण किया है तथा अपने व्यक्तित्व को जिस प्रकार नूतन गरिमा से मंडित किया है वह उनके वैशिष्ट्य का ही सूचक है। आज मूल्यगत स्तर पर मानवता संकटग्रस्त है और उसकी मुक्ति की संभावनायें दिन प्रति-दिन क्षीण होती जा रही है, सदियों से चले आ रहे धार्मिक विश्वासों के समक्ष प्रश्न चिह्न लगते जा रहे हैं, मनुष्य की श्रद्धा और भक्ति के स्रोत सूखते जा रहे हैं, निरीह मानवता छटपटा रही है और ऐसी स्थिति में आत्म-संयम तथा आत्म-विश्वास के सूत्र हमारे हाथों से छूटते जा रहे है। इन भयंकर क्षणों में इस प्रसिद्ध उक्ति का स्मरण हो रहा है—

तमसो मा ज्योतिर्गमय

अंधकार से निकलकर प्रकाश की ओर चलो—यह शुभ कामना हमारे ऋषि-मुनियों ने आज से हजारों वर्ष पूर्व की थी। लेकिन अन्ध मानस की विकृति ही समझिये कि हम प्रकाश की अवहेलना कर ऐसी गहन गुफा में प्रवेश कर गये हैं जहाँ से निकलने का मार्ग नहीं सूझ रहा है। गुफा की दीवारों से सर टकराकर हम निराश हो गये हैं, अभावों और विषमताओं की मार से हम टूटते नजर आ रहे हैं, मुसीवतों और संघर्षों की धूम्रशिखाएँ समस्त वातावरण को विषाक्त वनाती जा रही है। इस अवसर पर महान पुरुषों की वाणी और उनकी क्रियायें ही हमारा पथ-

प्रदर्शन कर सकती हैं, हमारे मन के सुषुप्त संस्कारों को जागरण-मंत्र दे सकती हैं। गणेश मुनिजी के साहित्य तथा उनकी वैचारिक गरिमा का यह सबसे बड़ा अवदान होगा कि हम उनके पुनीत व्यक्तित्व से प्रेरणा ग्रहण कर जीवन को सफलता तथा चरितार्थता प्रदान करें। आज वह क्षण निकट आ गया है जब हमें भावी जीवन की कल्पना अपने मानस में साकार करके यह निर्णय लेना होगा कि हम सुख और शांति के अभिलाषी हैं अथवा निरंतर संघर्ष एवं मानसिक प्रताड़ना के दुःखद व्यामोह में लिप्त रहना चाहते हैं। यदि हम सुख, संताप एवं हार्दिक सम्पन्नता के मार्ग पर अग्रसर होने का संकल्प करते हैं तो हमें भगवान महावीर की वह मंत्र-पूत वाणी ध्यान में रखनी होगी कि—'**उट्ठिए नो पमायए**', अर्थात् उठो, प्रमाद मत करो।

तथागत ने अपने शिष्यों को उद्बोधित करते हुए कहा था—'वादं जातं नो उपेति'—जहाँ वाद-विवाद हो रहा हो वहाँ नहीं जाना चाहिए। लेकिन समय का सबसे विचित्र व्यंग्य यह है कि हम स्वयं वाद-विवाद आमंत्रित करते हैं, उसी में रस लेते हैं और कटुता तथा दुर्भावना का वातावरण निर्मित करते हैं। स्वस्थ वाद-विवाद वैचारिक प्रगति का परिचायक होता है, किन्तु वैमनष्य पूर्ण वाद-विवाद विनाशकारी होता है, जिससे बचने के लिये भगवान बुद्ध ने चेतावनी दी थी। आज विभिन्न धार्मिक-सम्प्रदायों की भी जटिल स्थिति है। आपसी तालमेल और सद्भावना के स्थान पर पाखंडपूर्ण व्यवहार और साम्प्रदायिक कटुता का बाजार गर्म है। साधना के स्थान पर सिद्धि को ही जीवन का मूल उद्देश्य मानकर चलने वाले मठाधीशों ने देश में धार्मिक वातावरण को निर्मिति का वास्तविक प्रयत्न नहीं किया है। अतः सच्चे साधक का कर्तव्य है कि वह समाज में व्याप्त असंगतियों को चुनौती स्वीकार करे और अज्ञानता के घटाटोप को भेदकर मानवता का पथ-प्रदर्शन करे। श्री गणेश मुनिजी दीर्घ काल से इस प्रयत्न में लगे हुये हैं और उनकी रचनाओं ने इस प्रकार की वैचारिक दृष्टि दी है कि जिसके आलोक में न केवल जैन-समाज अपितु विस्तृत मानव-परिवार कल्याण के प्रशस्त पथ पर अग्रसर हो सकता है।

महान संकल्पों के लिये महती साधना की आवश्यकता होती है। यदि साधना में कहीं खोट होगी, तो संकल्प भी लक्ष्यभ्रष्ट हो जाते हैं। गणेश मुनिजी ने अपने निर्मल चरित्र के द्वारा साधना का जो गौरवशाली अध्याय जन-समाज के समक्ष प्रस्तुत किया है उसकी जितनी भी प्रशंसा की जावे वह कम है। अपने कृतित्व एवं व्यक्तित्व के द्वारा उन्होंने न केवल श्रमण-परंपरा को गौरवान्वित किया है वल्कि विपुल जैन-समाज को आत्म-संयम और आत्मशुद्धि का वास्तविक मार्ग बताया है। सामाजिक आडंवरों और पाखंडों से मुक्ति पाकर मानव समाज को सरल और सात्विक जीवन-पद्धति को स्वीकार करने का उन्होंने आग्रह किया है। वे उस प्रकार के चमत्कारिक साधु नहीं हैं, जो अपने तंत्र-मंत्र के द्वारा जन समाज को आकर्षित करके अंधकूप में डाल देते है, बल्कि वे उस ज्ञान की आराधना करते हैं, जिसमें चमत्कारों को कोई स्थान प्राप्त नहीं होता। उनकी साहित्यिक कृतियाँ मनुष्य-जीवन को अनेक व्यामोहों से मुक्त कराके वास्तविक आनन्द की खोज के लिये उत्प्रेरित करती है।

जिस प्रकार शांत-सरोवर के जल पर फेंका गया छोटा सा प्रस्तर खंड वर्तुलाकार लहरों की सृष्टि कर देता है, उसी प्रकार गणेश मुनिजी के प्रशांत मानस में चेतना के आघात से निरंतर भावोर्मियां प्रसारित होती रहतो हैं। मानस-मंथन करके उन्होने अपने विचार रत्नों से जैन साहित्य की श्रीवृद्धि का अथक प्रयास किया है। आज जैन समाज उनके साधनापूत व्यक्तित्व की ओर वड़ी आशा भरी निगाहों से देख रहा है और मुझे विश्वास है कि वे श्रमण-परंपरा की प्रज्वलित मशाल को लेकर जिस गति से आगे वढ़ रहे है उससे अंधकाराच्छन्न वातावरण को नयी रोशनी प्राप्त होगी। सतत प्रवहमान जल-धारा की गति को हम प्रत्यक्ष देखते है, किन्तु उसके अन्तिम लक्ष्य की कल्पना करना कठिन होता है। पूर्णिमा की स्निग्ध धवल-चंद्रिका की शीतलता का अनुभव किसी भी सहृदय को हो सकता है, किन्तु उस शीतलता की वास्तविक मात्रा का अनुमान लगाना असंभव है, गरजते हुए विशाल सागर की आकुल तरंगों का नृत्य नेत्रों से देखा तो जा सकता है किन्तु उन तरंगों की गणना हास्यास्पद हाती है। इसी प्रकार

शाश्वत साधना के अडिग निर्णय को लेकर अग्रसर होने वाले साधक की संपूर्ण यात्रा का लेखा-जोखा प्रस्तुत करना भी असंभव प्रतीत होता है। मुनि जी के संपूर्ण व्यक्तित्व को एक लघु कृति की सीमा में आँकना संभव ही नहीं है। अतः यह कहना कि मुनिजी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के सभी आयामों को इस कृति में उद्घाटित कर दिया गया है, धृष्टता होगी। उनका व्यक्तित्व और साहित्य इतना विशिष्ट है कि उसके आधार पर एक नहीं, अनेक कृतियों की रचना सहजता से की जा सकती है। यदि परिचय की औपचारिकता से मुक्त होकर मुझे कुछ कहना है तो मैं हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि श्री सुमित्रानन्दन पंत के शब्दों में उनके व्यक्तित्व का परिचय निम्नलिखित पंक्तियों में देना चाहूँगा—

"मानव दिव्य स्फुलिंग चिरंतन
वह न देह का नश्वर रजकण !
देश काल है उसे न बंधन,
मानव का परिचय मानवपन !"



परिशिष्ट

मुनि श्री जी की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ

❁ प्रकाशित

आधुनिक विज्ञान और अहिंसा	३.५०
अहिंसा की बोलती मीनारें	४.००
इन्द्रभूति गौतम : एक अनुशीलन	४.००
भगवान महावीर के हजार उपदेश	६.००
विचार रेखा [हिन्दी-गुजराती]	१.५०
जीवन के अमृतकण	२.५०
प्रेरणा के बिन्दु	३.००
प्रेरणानुं झरणुं [गुजराती]	३.५०
सुबह के भूले	७.००
वाणी-वीणा	२.५०
महक उठा कवि सम्मेलन	१.५०
गीतों का मधुवन	१.००
मंगल प्रार्थना	१.००
संगीत रश्मि [अप्राप्य]	
गीत झंकार [अप्राप्य]	
गणेश गीताञ्जलि [अप्राप्य]	
गीत गुञ्जार [संपादित]	

❁ प्रकाशन के पथ पर…!

भगवान महावीर : जीवन और संदेश
विश्व को भ० महावीर की देन
भगवान महावीर : एक अध्ययन
विश्वज्योति महावीर [काव्य]
गणेश मुनि शास्त्री : व्यक्तित्व एवं कृतित्व
विचार दर्शन
अतर की अंगड़ाईयाँ
साधना स्रोत
पाँच कवि

❁ अप्रकाशित

जलते दीप
प्रकृति के अंचल में
धरती के फूल
अनगूँजे स्वर
तव और अव
मानवता का अन्तर स्वर



मुनि श्री जी के साहित्य पर :

विशिष्ट विद्वानों के मत-सम्मत

आधुनिक विज्ञान और अहिंसा

लेखक : गणेशमुनि शास्त्री, साहित्यरत्न

भूमिका : विद्वद्वर्य मुनि कांतिसागर जी

प्रकाशक : आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली ६

मूल्य—३.५०, प्रकाशन काल १९६२

❀विज्ञान और अहिंसा दोनों ही वड़े जटिल विषय हैं, फिर भी इन्हें जिस सरल और आकर्षक रूप में उपस्थित करने का विद्वान लेखक ने प्रयास किया है, वह श्लाघनीय है.......कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक जानकारी देने का उपक्रम, पुस्तक की अपनी विशेषता है, तभी तो लेखक ने 'प्राकृतिक और आध्यात्मिक' से प्रारम्भ कर 'विश्वशान्ति और अहिंसा', 'संयुक्त राष्ट्रसंघ' तथा 'अहिंसा की सार्वभौम शक्ति' आदि अनेक विषयों की चर्चा की है......प्रस्तुत पुस्तक अहिंसा सम्बन्धी विचारों की निर्माण दिशा में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी, ऐसा मेरा विश्वास है, भाषा प्रवाहशील है, सवल है, छपाई, सफाई, गेटअप आकर्षक है।

—उपाध्याय अमरमुनि

❀'आधुनिक विज्ञान और अहिंसा' में श्री गणेशमुनि शास्त्री ने वर्तमान जीवन की विभीपिकाओं पर दृष्टि केन्द्रित करते हुए अपने अनुभवों द्वारा विज्ञान और आध्यात्मिक संस्कृति का समन्वयात्मक अध्ययन सरलतापूर्वक प्रस्तुत कर रुचिशील पाठकों का ज्ञान संवर्धन किया है, विज्ञान जैसे वहिर्जगत् से संबद्ध विषय से लेकर धर्म, अहिंसा और दर्शन जैसे आध्यात्मिक जीवन-प्रेरक तत्त्वों से सम्वन्ध स्थापित कर धर्म और समाज की जो सेवा की है, वह स्तुत्य है।

—मुनि कांतिसागर

❀'आधुनिक विज्ञान और अहिंसा' एक आदर्श कृति है। युवक क्रान्तदर्शी सन्त श्री गणेशमुनि शास्त्री का प्रस्तुत उपक्रम आधुनिक युग की साहित्य सर्जना में वेजोड़ है।

—'श्रमण' वाराणसी

❀विज्ञान और वैज्ञानिक प्रणालियाँ मानवता द्वारा अहिंसा का मार्ग सरलता से

अपनाने में किस प्रकार सहायक हो सकती हैं, इस विषय में श्री गणेश मुनिजी के जो विचार हैं, वे जनता के सही मार्गदर्शन में उपयोगी सिद्ध होंगे।

—डा० दौलतसिंह कोठारी

❁'आधुनिक विज्ञान और अहिंसा' के लेखक मुनिराज को न केवल विज्ञान में ही रुचि है, अपितु धर्मशास्त्रों के साथ-साथ वैज्ञानिक साहित्य का भी सुन्दर अध्ययन है। प्रस्तुत कृति भावी अहिंसा विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के पाठ्यक्रम में उपयोगी सिद्ध होगी।

—डा० डी० बी० परिहार

❁यदि प्रस्तुत पुस्तक को प्रयत्न करके किसी पाठ्यक्रम में निश्चित करा दिया जाय, तो जनता का अधिक लाभ होगा, पुस्तक सर्वरूपेण पठनीय है।

—जिनवाणी
जयपुर (राजस्थान)

साथ अहिंसा के अगर,
हो पढ़ना विज्ञान।
पाठक! पढ़िये प्यार से,
यह पुस्तक गुण-खान।
सरल सरस फिर सारयुत,
कृति ऐसी नहिं अन्य।
मुनि 'गणेश' शास्त्री-गुणी,
जी को शतशः धन्य!

—चन्दन मुनि (पजाबी)

अहिंसा की बोलती मीनारें

लेखक : गणेश मुनि, शास्त्री साहित्यरत्न

भूमिका : यशपाल जैन, दिल्ली

प्रकाशक : सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा २

मूल्य : ४.००, प्रकाशन काल १९६८

❁आज सब ओर प्रेम और बन्धुता के स्थान पर आशंका, भय और अविश्वास का बोलबाला है। ये सब शान्ति के लिए खतरे हैं, जिनसे त्राण पाने का यदि कोई अमोघ अस्त्र है, तो वह अहिंसा ही है। जहाँ अहिंसा है, वहाँ जीवन है और जहाँ अहिंसा का अभाव है, वहाँ जीवन का अभाव है। इस पुस्तक में अहिंसा की इसी

विराट् और व्यापक शक्ति का ऐतिहासिक, सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दृष्टि से सूक्ष्म विवेचन किया गया है। पुस्तक सात खण्डों में विभक्त है और प्रत्येक खण्ड को 'बोलती मीनार' की संज्ञा दी गई है। प्रथम खण्ड में अहिंसा के आदर्श को समझाते हुए, विराट् दृष्टि और विभिन्न मतों में उसका निरूपण किया गया है ···दूसरे अध्याय में सामाजिक हिंसा के विचित्र रूप शोषण, दहेज आदि की चर्चा करते हुए बताया गया है कि मानव जाति एक है······तीसरे खण्ड में अपरिग्रहवाद की विस्तार से चर्चा की है···चौथे और पांचवे अध्याय में अहिंसा के बुनियादी सिद्धान्त अनेकान्तवाद और शाकाहार की चर्चा की गई है। छठे खण्ड में रेडियो सक्रियता, आणविक शक्ति, अणु-परीक्षण आदि का उल्लेख करते हुए यह बताया गया है कि विज्ञान पर अहिंसा की विजय किस प्रकार होती जा रही है और उसका समन्वय कैसे हो सकता है। अन्तिम सातवें खण्ड में अहिंसा और विश्व शान्ति जैसे ज्वलंत प्रश्न पर विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत विस्तार से चर्चा करते हुए इस दिशा में भारत के योगदान की चर्चा की गई है।

पुस्तक में अहिंसा के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्ष पर काफी सुपाठ्य सामग्री दी गई है। भाषा सरल, सुबोध और शैली इतनी रोचक है कि सीमित ज्ञान रखनेवाले व्यक्ति भी इसे आसानी से समझ सकते हैं। गेटअप और छपाई की दृष्टि से भी पुस्तक अच्छी और विषय वस्तु के कारण तो संग्रहणीय है ही।

—**दैनिक हिन्दुस्तान**
४ जनवरी १९७०, दिल्ली

❁प्रस्तुत पुस्तक में विद्वान लेखक ने अहिंसा की व्यावहारिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए, उसके विभिन्न अंगों का विशद विवेचन किया है। इसे पढ़कर अहिंसा की तेजस्वी शक्ति का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

पुस्तक सात खण्डों में विभक्त है। पहले खण्ड में उन्होंने अहिंसा के आदर्श को समझाया है। दूसरे में मानव जाति एक है, इसको स्पष्ट किया है। तीसरे में अहिंसा की साधना का ढंग बताया गया है इसी खण्ड में अपरिग्रहवाद की विस्तार से चर्चा है। बाद के चार अध्यायों में सरल सुस्पष्ट भाषा में अहिंसा के बुनियादी सिद्धान्तों का विवेचन प्रस्तुत है। अहिंसा और विज्ञान के समन्वय पर भी बल दिया गया है। अन्त में अहिंसा एवं विश्वशान्ति के ज्वलन्त प्रश्न पर विचार किया गया है।

पुस्तक कई दृष्टियों से पठनीय, चिन्तनीय, एवं संग्रहणीय है। आशा है कि साहित्यिक जगत में पूर्ण सम्मानित होगी।

—**नवभारत टाइम्स**, १४ दिसम्बर १९६९, बम्बई

❁अहिंसा की व्यावहारिक पृष्ठभूमि को स्पर्श करते हुए उसके विभिन्न अंगों का

विशद विवेचन श्री गणेश मुनिजी शास्त्री ने प्रस्तुत पुस्तक में किया है। अहिंसा के सम्बन्ध में लेखक निष्ठावान है और साथ ही व्यावहारिक बुद्धि से युक्त भी। अध्ययन एवं अनुभव के आधार पर की गई उसकी विवेचना अहिंसा में निष्ठा रखने वाले प्रत्येक पाठक के लिए उपयोगी सिद्ध होगी, ऐसा मेरा दृढ़तम विश्वास है।

—उपाध्याय अमरमुनि

❁अपने बहुत-से लेखों तथा भाषणों में मैंने इस बात पर जोर दिया है कि हमें सरल, सुबोध भाषा में कुछ ऐसी पुस्तकें तैयार करनी चाहिए, जो सामान्य बुद्धि और ज्ञान रखने वाले व्यक्तियों की भी समझ में आ जायं और वे इन्हें पढ़कर जान सकें कि अहिंसा की शक्ति कितनी तेजस्वी है और उन पर आचरण करके किस प्रकार राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय जीवन जगत में स्थायी शान्ति और सुख स्थापित किया जा सकता है। इस दृष्टि से प्रस्तुत पुस्तक को देखकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई। इसके लेखक जैन मुनि हैं और इन्होंने अहिंसा तथा सम्बन्धित सभी विषयों का सूक्ष्म अध्ययन एवं चिन्तन किया है।

—यशपाल जैन, देहली

❁'अहिंसा की बोलती मीनारें' के द्वारा कृष्ण के प्रेम को, महावीर की अहिंसा को, गाँधीजी की सत्याग्रहवादी भाषा को लेखक ने नवयुग की चेतना के समक्ष बड़ी सज-धज के साथ रखा है।

—विजय मुनि शास्त्री

❁आज के भयाक्रान्त विश्व को निर्भयता की ओर ले जाने में यह पुस्तक पूर्ण सहायक बनेगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

—प्रवर्तक मुनि मिश्रीमल

❁ऐसा श्रम साध्य तथा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ यदि किसी उच्चस्तरीय परीक्षा के पाठ्यक्रम में स्वीकृत हो जाय, तो समाज का अधिक हित हो सकता है।

—प्रवर्तक विनयऋषि

❁'अहिंसा की बोलती मीनारें' में लेखक ने अहिंसा का शास्त्रीय चिंतन प्रस्तुत करते हुए उसके व्यावहारिक, आध्यात्मिक और विविध मतों की दृष्टि से सामाजिक मूल्यों पर भी सुन्दर प्रकाश डाला है। भाव-भाषा दोनों ही दृष्टियों से पुस्तक सुन्दर से सुन्दरतर है।

—आचार्य मुनि हस्तिमल

❁वर्तमान विचार द्वन्द्व की काली निशा में मुनि श्री का प्रस्तुत ग्रन्थ 'अहिंसा की बोलती मीनारें' प्रकाश स्तंभ बनकर विश्व को सही मंजिल की दिशा सुझायेगा, ऐसा विश्वास है।

—मालवकेशरी मुनि सौभाग्यमल

❁पुस्तक क्या है ? वर्तमान देश, समाज व राष्ट्र की विभिन्न समस्याओं का उचित समाधान ! राकेटवादी युग का प्रकाश स्तम्भ ! प्रत्येक मीनार का विषय बड़ा ही रोचक, दिलचस्प एवं ज्ञानवर्धक है।

—पं० शोभाचन्द्र भारिल्ल

विचार रेखा

सम्पादक : गणेश मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न

प्रेरक : श्री जिनेन्द्र मुनिजी

प्रकाशक : अमर जैन साहित्य सदन, जोधपुर

मूल्य : १.५०, प्रकाशन काल १९६६

❁प्रस्तुत पुस्तक छः अध्यायों में विभक्त वह उद्यान है, जिसमें अहिंसा, अस्तेय, संतोष, संयम, प्रेम, हर्ष, सुख, दुःख, क्षमा आदि विविध विचारों के सुमन खिले हैं, आशा है, जीवन में इनकी सुरभि मिलती रहेगी। पुस्तक संग्रह और मनन के लायक है। मुनि श्री की इस सुन्दर कृति का सर्वत्र स्वागत हो यही हमारी मंगल कामना है।

—श्रमण, वाराणसी

हाथ में उठा जो देखा विचित्र 'विचार रेखा',
सबसे निराला लेखा, कविता न गीत है।
अनमोल हीरे पर, ढंग से दिये हैं धर,
जौहरी का जैसा घर, पावन-पुनीत है।
ज्ञानी ध्यानी महागुणी, पंडित 'गणेश मुनि',
हर बात ऐसी चुनी, जीवन की जीत है।
ज्ञानियों के, गुणियों के, ऋषियों के, मुनियों के,
विविध विचारों का ही यह नवनीत है।

—चन्दन मुनि [पंजाबी]

❁रूप-रंग, साज-सज्जा तथा सामग्री की दृष्टि से 'विचार रेखा' एक उत्तम कृति है, ऐसी उत्तम कृति का साहित्य जगत में स्वागत होना ही चाहिए।

—डा० नृसिंहराज पुरोहित

इन्द्रभूति गौतम : एक अनुशीलन

लेखक : गणेश मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न

संपादक : श्रीचन्द सुराना 'सरस'

भूमिका : डा० जगदीशचन्द्र जैन

प्रकाशक : सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा २

मूल्य : ४.००, प्रकाशन काल १९७०

❁प्रस्तुत प्रबन्ध में गणधर इन्द्रभूति गौतम के विराट् व्यक्तित्व की यथार्थ तसवीर खींची गई है। आज तक की साहित्यिक अपूर्णता को यह कृति पूर्ण कर रही है।

इस प्रबन्ध के लेखक हैं—श्रद्धेय पण्डित प्रवर श्री पुष्कर मुनि म० के शिष्य-रत्न श्री गणेश मुनि जी शास्त्री, श्री गणेश मुनि जी जैन समाज के एक अनेक पहेलु वाले जगमगाते जवाहिर हैं। वे कवि भी हैं और कलाकार भी हैं। गायक भी हैं और साधक भी हैं। और वे क्या नहीं हैं, यह एक प्रश्न है ?

आप इस प्रबन्ध के लिए अपनी साधु समाज में "डाक्टरेट" के प्रथम विजेता बनें, यही मनीषा।

—साध्वी उज्ज्वलकुमारी

❁श्री गणेश मुनि जी शास्त्री की 'इन्द्रभूति गौतम : एक अनुशीलन' पुस्तक पढ़ी। ग्रन्थ बहुत अध्ययनपूर्ण एवं सुन्दर शैली में लिखा गया है··· ···यदि वे सुधर्मास्वामी पर भी इसी तरह का एक शोध-प्रबन्ध तैयार करें तो समाज की बड़ी सेवा होगी।

—साहित्यवारिधि अगरचन्द नाहटा

❁विद्वान लेखक को इस 'थीसिस' पर 'डाक्टरेट' मिलनी चाहिए और उन्हें विशेष पद से विभूषित किया जाना चाहिए।

इस अनुपम कृति के उपलक्ष में मैं ज्ञानयोगी श्री गणेश मुनि जी का तथा सम्पादक बन्धु का और उनके भाग्यशाली पाठकों का हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ।

—नारायणप्रसाद जैन, बम्बई

❁प्रस्तुत पुस्तक में विद्वान लेखक एवं सम्पादक ने 'इन्द्रभूति' के उस महामहिम शब्दातीत रूप को शब्दगम्य बनाने का स्तुत्य प्रयत्न किया है। पुस्तक का सरसरी तौर पर अवलोकन कर जाने पर मुझे लगा है—गौतम के व्यक्तित्व की गहराई को श्रद्धा एवं चिन्तन के साथ उभारने का यह प्रयत्न वास्तव में ही प्रशंसनीय है तथा एक बहुत बड़े अभाव की संपूर्ति भी।

ऐसे अनुशीलनात्मक विशिष्ट ग्रन्थों से पाठकों की ज्ञानवृद्धि के साथ तत्त्व-जिज्ञासा की परितृप्ति होगी—ऐसा विश्वास है।

—उपाध्याय अमर मुनि

❁प्रस्तुत समीक्ष्य कृति 'इन्द्रभूति गौतम : एक अनुशीलन' श्री गणेश मुनि शास्त्री द्वारा लिखी गई है, जिसमें गौतम सम्बन्धी विभिन्न चर्चाएँ हुई है। विद्वान लेखक ने नातिदीर्घ पुस्तक में ही इन्द्रभूति गौतम के सम्बन्ध में गहराई से विचार किया है और उनके विद्वत्तापूर्ण असाधारण व्यक्तित्व को प्रथम बार प्रकाश में लाने का स्तुत्य प्रयास किया है। वस्तुत: लेखक का यह शोधपूर्ण प्रयास जैन चिन्तन के क्षेत्र में महार्घ माना जायेगा ' ···पुस्तक की भाषा साफ-सुथरी, प्रवाहपूर्ण आकर्षक है, लेखन शैली पिच्छिल और मनोज्ञ—संक्षेप में, पुस्तक शोध-पूर्ण, नये चिन्तन को वल देने वाली और ऐतिहासिक संदर्भ को उत्साहित करने वाली है।

—'श्रमण' वाराणसी

❁'इन्द्रभूति गौतम : एक अनुशीलन' को पढ़ने से ज्ञात हुआ कि यह एक थीसिस (महानिवन्ध) है, इस प्रकार की पुस्तक लिखने वालों को विश्वविद्यालय की ओर से पी-एच० डी० की उपाधि से विभूषित किया जाता है, प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक श्री गणेश मुनिजी शास्त्री भी पी-एच० डी० की उपाधि के योग्य हैं।

—प्रवर्तक विनयऋषि

❁

गौतम गणधर शिष्य थे, महावीर के खास,
अव तक उनका न लखा, हिन्दी में इतिहास।
ज्ञानी गुणी 'गणेश जी' शास्त्री सुलझे संत,
'इन्द्रभूति गौतम' लिखा अद्‌भुत अनुपम ग्रन्थ।
जैसा लेखन उच्च है, है सम्पादन उच्च,
याद भरा मुख पृष्ठ औ, सर्व प्रकाशन उच्च।
गहन मनन अध्ययन औ, चिन्तन देख विशाल,
है अभिनन्दन कर रहा, गद्-गद् 'चन्दनलाल'।

—चन्दन मुनि

भगवान महावीर के हजार उपदेश

संपादक : गणेश मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न

सयोजक : जिनेन्द्र मुनि 'काव्यतीर्थ'

भूमिका : उपाध्याय अमर मुनि

प्रकाशक : अमर जैन साहित्य संस्थान, उदयपुर

मूल्य : ६·००, प्रकाशन काल १६७३

❁आज विश्व विनाश के कगार पर खड़ा है। चारों ओर अशान्ति की आग सुलग

रही है। मानवता संकटापन्न है। वैज्ञानिक खलनायकों के हाथ में मानवता और शान्ति की मासूम बुलबुलें छटपटा रही हैं। समर देवता की भयानक जिह्वा विश्व को निगलने के लिए लपलपा रही है। ऐसे विकट समय में भगवान महावीर के उपदेशों की अत्यधिक आवश्यकता है। उन उपदेशों को हृदयंगम कर मानव जन-जीवन में शान्ति, समता व सरसता की सरस सरिता प्रवाहित कर सकता है। मुझे हार्दिक प्रसन्नता है कि मेरे प्रिय शिष्य श्री गणेश मुनि ने आगम साहित्य का मंथन कर "भगवान महावीर के हजार उपदेश" रूप ग्रन्थ तैयार किया है। यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी है। इस ग्रन्थ को प्रबुद्ध पाठक अपनायेंगे। साथ ही मेरा हार्दिक शुभाशीर्वाद है कि श्री गणेश मुनि साहित्यिक दृष्टि से निरन्तर प्रगति के सोपान पर बढ़ता रहे………।

—पुष्कर मुनि

❁श्री गणेश मुनि द्वारा सम्पादित "भगवान महावीर के हजार उपदेश" पुस्तक देख कर मन गद्-गद् हो गया। ठीक ऐसे अवसर पर यह पुस्तक प्रकाशित की गई है, जब इसकी आवश्यकता बहुत आतुरता से हम अनुभव कर रहे थे। २५ वीं निर्वाण शताब्दी समारोह पर वीतराग वाणी के प्रसार का माध्यम यह ग्रन्थ बनेगा ऐसा मेरा विश्वास है।

सम्पादक महोदय दार्शनिक सत्य और काव्य सौन्दर्य की समन्वित चेतना के संत हैं, यही कारण है कि जीवन और जगत् के निश्चित मूल्यों के सम्बन्ध में विराट् चेतना के धनी अरिहंत देव की अनुभूतियों का विषयानुक्रम से वर्गीकृत कर पाठक को तत्त्वबोध समझाने में पूरी तरह सफल हुये हैं। इस प्रकार के ग्रन्थों का प्रणयन निरन्तर बढ़े, यही कामना।

—मुनि सुशीलकुमार

[सर्व धर्म सम्मेलन के प्रवर्तक]

❁आज के अनास्थाहीन, कुंठाग्रस्त, दिग्भ्रमित जन-जीवन के लिए भगवान महावीर के ये उपदेश निश्चय ही जीवन निर्माणकारी प्रेरक तत्त्व के रूप मे उपयोगी-सिद्ध होंगे और निराशा में आशा, आस्था तथा हिम्मत का प्रकाश विकीर्ण करेंगे। भ० महावीर की वाणी के इस मधु-संचय के लिए मुनिश्री जी हम सब के लिए बधाई के पात्र हैं………!

—डा० नरेन्द्र भानावत

❁……श्री गणेश मुनि जी एक सरल, शान्त, भावनाशील एवं युवकोचित उत्साह से युक्त श्रमण हैं। कविता लेखन एवं प्रवचन तीनों ही धाराओं में उनकी अच्छी गति है। उन्होंने पहले भी कुछ अच्छी रचनाएँ जनसाहित्य के रूप में प्रस्तुत की हैं, जिनका यत्र-तत्र-सर्वत्र समादर हुआ है। प्रस्तुत संग्रह कृति के साथ उन्होंने इस दिशा

मे एक और भव्य चरण आगे बढ़ाया है। मैं मुनि श्री के मंगलमय भविष्य की कामना करता हूँ कि वे इस प्रकार की साहित्य-साधना के क्षेत्र में अधिकाधिक यशस्वी होगे एवं प्रभु महावीर के शासन गरिमा को अधिकाधिक दीप्तिमान करेगे।

—उपाध्याय अमरमुनि

गुणी 'गणेश मुनीश' का, नूतन ग्रन्थ विशेष।
महावीर भगवान के हैं, हजार उपदेश ॥
गागर मे सागर सदृश, आत्मिक इसमे ज्ञान।
पढ़े-पढ़ाये प्रेम से, हो निश्चित कल्याण ॥
लेखन-मुद्रण आदि है, आकर्षक अत्यन्त।
हर इक के अति काम का, गेही हो या संत ॥
ग्रन्थरत्न जग को दिया, किया महा उपकार।
'चन्दन मुनि' की ओर से, साधुवाद शत बार ॥

—चन्दन मुनि (पंजाबी)

❁…… …जैसे दही के मंथन से नवनीत की प्राप्ति होती है। वैसे ही पण्डितरत्न श्री गणेश मुनिजी शास्त्री ने आगम का मंथन कर "भ० महावीर के हजार-उपदेश" नामक ग्रन्थ नवनीत के रूप मे समाज को भेट किया है। एतदर्थ धन्यवाद !

—प्रवर्तक विनयऋषि

❁श्री गणेश मुनिजी शास्त्री सरस कवि, गंभीर गवेषक और ओजस्वी वक्ता के रूप में विश्रुत है। मैंने उनकी अनेक कृतियाँ देखी, हर कृति अपना स्वतन्त्र-वैशिष्ट्य को लिये हुई है।……भगवान महावीर के हजार उपदेश में जिनवाणी का संकलन अत्यन्त स्वस्थ व सुरुचिपूर्ण दृष्टि से हुआ है ……।

—डा० राजकृष्ण दुगड़, पी-एच० डी०

❁'भगवान महावीर के हजार उपदेश' पुस्तक बहुत ही सुन्दर है। वचनों का चयन बड़े परिश्रम तथा सूझ-बूझ से हुआ है। उन्हें वर्गीकृत करके तो लेखक ने 'सोने में सुहागे' की कहावत चरितार्थ की है। पुस्तक का एक-एक वचन पठनीय तथा मननीय है। ऐसे सुन्दर प्रकाशन के लिए लेखक मुनिश्री को मेरी हार्दिक बधाई। मुझे विश्वास है कि मुनिश्री की इस कृति को जो भी पढ़ेगा, उसे लाभ होगा……।

—यशपाल जैन
[सुप्रसिद्ध साहित्यकार]

❁विद्वद्रत्न शास्त्री श्री गणेश मुनिजी द्वारा संपादित 'भगवान महावीर के हजार उपदेश' ग्रन्थ को देख कर अत्यधिक प्रसन्नता हुई। ग्रन्थ बहुत सुन्दर रूप से निकला

है। मुनिजी ने एक बड़ी कमी की पूर्ति की है। पच्चीस सौ वीं निर्वाण शताब्दी पर इसका विशेष तौर पर प्रचार वांछनीय है।

—अगरचन्द नाहटा

❀Based on the harmony of poetic Beauty and philosophical truth; the edition of "Bhagwan Mahavir ke Hazar Upadesh" is a commendable work. It goes without saying that Shri Ganesh Muni Shastri has a refined taste that in wisdom and knowledge. I hope the work will be helpful to make people understand the teachings of Bh gwan Mahavira in the context of life and world

—**Muni Samant Bhadera**

वाणी-वीणा

कवयिता : गणेश मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न

सम्पादक : श्रीचन्द सुराना 'सरस'

भूमिका : डॉ० पारसनाथ द्विवेदी, आगरा

प्रकाशक : अमर जैन साहित्य सदन, जोधपुर

मूल्य : २.५०, प्रकाशन काल १९६८

❀'वाणी-वीणा' जीवन की सात्विक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति का काव्यात्मक स्वरूप है, आज के युग-वैषम्य और कुण्ठाओं में पल रहे समाज के लिए इस प्रकार का संगीतात्मक प्रेषण प्रेरणाप्रद हो सकता है, समभाव, मैत्रीदिवस, प्रेममंत्र, धार्मिकता, अहिंसा आदि जैनधर्म से समस्त उदात्त प्रवृत्तियों पर सुन्दर काव्यात्मक पंक्तियाँ प्रस्तुत की गई हैं—जो लेखक के चिन्तन, मनन व अनुभूति की सात्विकता का पोषण करती है, कवि की इस मानवतावादी दृष्टि में ही वीणा का वैशिष्ट्य निहित है।

—नवभारत टाइम्स, मार्च १९७० बम्बई

❀'वाणी-वीणा' को पढ़कर हृदय आनन्द की तरंगों में डूबने लगता है और लगता है कि हम गंगा की पावन धारा में एक बजरे के ऊपर बैठे हों, आज के युग में ऐसी पुस्तकों की पहले से अधिक आवश्यकता है।

—विश्वम्भर 'अरुण'

वाणी वीणा पढ़ मन मेरा, आनन्द से भर आया,
हर पद के गुञ्जन में देखी, पन्त निराला की छाया।
स्वागत है कविराज तुम्हारा काव्य क्षेत्र में तुम चमके,
नीलगगन में दिनकर के सम, दिन-दिन जगती पर दमके।

—साध्वी उज्ज्वलकुमारी

❀'वाणी-वीणा' किसी सम्प्रदाय विशेष का स्वर नहीं, वलिक सच्ची निष्ठा के साथ मानवीय कर्तव्य कर्मों का स्वर संधान है, जीवन जगत के श्रेयस की पकड़ है।

—डॉ० पारसनाथ द्विवेदी

❀'वाणी-वीणा' मुक्तक रत्नों से सुसज्जित सुन्दर हार-सी एक मौलिक कृति है, जो साहित्य मूर्ति के कण्ठाभरण-सी प्रतीत होती।

—मुनि 'कुमुद'

❀'वाणी-वीणा' में कविवर श्री गणेश मुनि शास्त्री ने जीवनोपयोगी-मुक्तक काव्यों की भव्य रचना की है····! सरस्वती के भण्डार में यह पुस्तक अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है, कवि की कल्पना मधुर है, भाषा प्रांजल है और शैली प्रभावमयी है, आशा है कि प्रत्येक अध्येता 'वाणी-वीणा' से प्रेरणा प्राप्त कर अपने जीवन को प्रशस्त बनाने का यत्न करेगा।

—विजय मुनि शास्त्री

महक उठा कवि सम्मेलन

कवयिता : गणेश मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न

प्रकाशक : अमर जैन साहित्य सदन, जोधपुर

मूल्य : १.५०, प्रकाशन काल, १६६६

'महक उठा कवि सम्मेलन' एक सौ एक मुक्तकों की भीनी सुरभि से महक रहा है, कवि ने अपने इन तमाम मुक्तकों में कमाल की सूझ भर दी है। व्यंग्योक्ति के मर्म को छूनेवाली व्यंजना, लाक्षणिकता की विपुल-बहुल शृंखला कल्पना की उर्वर भूमि पर युगबोध का सम्यक् समाहार, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का चमत्कार एवं भावों को जन-मन तक पहुँचाने वाली भाषा का सरल सरस प्रवाह पद-पद पर छलकता नजर आता है।

·······मुक्तक-काव्य-परम्परा में प्रस्तुत पुस्तक सदा सम्मान की दृष्टि से याद की जायेगी।

—श्री अमर भारती

❀'महक उठा कवि-सम्मेलन' आधुनिक युग के समर्थ चिंतक कविरत्न श्री गणेश मुनिजी शास्त्री की एक मौलिक कृति है। इसमें कुछ तुक्तक-मुक्तक ऐसे हैं, जिन्हें देखते ही जिह्वा झूम-झूम कर गुनगुनाने लगती है। काव्य-जगत में मुनिश्री की प्रस्तुत कृति एक नयी अभिव्यञ्जना सिद्ध होगी।

—साध्वी उज्ज्वलकुमारी

'महक उठा कवि सम्मेलन' जब,
पुस्तक जरा उठा देखी।

फुलझड़ियाँ देखी मुक्तक की तो,
सब की अजब अदा देखी।
गुणी 'गणेश' मुनीश्वर जी की,
लखी लेखनी चकित हुआ।
ऐसी सुलझी अन्य कहीं पर,
कम ही काव्य-कला देखी। —चन्दन मुनि [पंजाबी]

❀-'महक उठा कवि सम्मेलन' के मुक्तक आकार की दृष्टि से छोटे हैं, किन्तु मानव के मन-मस्तिष्क को प्रभावित करने एवं जीवन को नया मोड़ देने में ये अणु से भी कम शक्तिशाली नहीं है। ये मानव मन पर जादू-सा असर करने वाले है।

छपाई-सफाई, आकार-प्रकार तथा कलापूर्ण आवरणपृष्ठ अत्यधिक आकर्षक है। —मुनि समदर्शी

सुबह के भूले

लेखक : गणेश मुनि शास्त्री साहित्यरत्न

सम्पादक : जीतमल सकलेचा एम० ए०

प्रकाशक : अमर जैन साहित्य संस्थान, उदयपुर

मूल्य : ७.००, प्रकाशन काल १९७१

❀पुस्तक की भाषा-शैली प्रवाह पूर्ण और प्रभावशाली है। "रसात्मकम् वाक्यं काव्यं" की अनुभूति रचना को पढ़ते समय क्षण-क्षण होती रहती है। शब्दों का सुन्दर संयोजन वाक्यों का सुगठित स्वरुप और अभिव्यक्ति की स्वच्छता रचनाकार की मौलिक शिल्प-चेतना का प्रत्यक्ष उदाहरण है। मुझे विश्वास है कि प्रस्तुत उपक्रम जैन-संत-काव्य परम्परा का बेजोड़ रत्न साबित होगा और आधुनिक युग के यांत्रिक मानव-समाज को आध्यात्मिक शान्ति का सुन्दर उपहार देगा। मुनि जी लालित्यपूर्ण साहित्य-सर्जना के लिए बधाई के पात्र हैं। —डॉ० रामप्रसाद त्रिवेदी

पढ़ी सुबह के भूले पुस्तक,
झूम उठे बस तन-मन-मस्तक।
ज्ञान-गुणों की जिन में ज्योति,
पृष्ठ-पृष्ठ पर अद्‌भुत मोती।
जीवन का निर्माण करेगी,
जन-जन का कल्याण करेगी।
लेखक इसके जैन सितारे,
गुणी 'गणेश' मुनीश्वर प्यारे।

मुनिवर 'पुष्कर' गुरुवर जिनके,
शिष्य न क्यों हों उनसे उनके।
नये रंग में कलम चलाई,
हर्षित 'चन्दन' देत बधाई।

—चन्दन मुनि [पंजाबी]

❀श्री गणेश मुनि शास्त्री गूढ़ विचारक और गवेषक सन्त होने के साथ-साथ सरस कवि भी हैं....! प्रस्तुत पुस्तक में उनकी भावुकता, कथा-नैपुण्य और भाषा की सहज प्रवाह शीलता का सूचक है। गद्य-गीत में लिखी ये कहानियाँ 'सुबह के भूले' प्राणियों को शाम तक घर लौटने की प्रेरणा देती हैं। —पार्श्वकुमार मेहता

❀'सुबह के भूले' पुस्तक से मुनिश्री जी की कवि-प्रतिभा का सुन्दर परिचय मिलता है.......। मुझे विश्वास है कि वे आगे जाकर महाकवि के रूप में विश्रुत होंगे !

—डॉ० राजकृष्ण दुगड़, पी०-एच डी०

❀श्री गणेश मुनि जी जैन समाज के चिन्तनशील कवि और विद्वान गवेषक सन्त हैं। 'अहिंसा की बोलती मीनारें', 'इन्द्रभूति गौतम : एक अनुशीलन' आदि कृतियों में उनका गवेषक पण्डित रूप प्रकट हुआ है। प्रस्तुत कृति 'सुबह के भूले' में उनका सरस कवि-रूप उभर कर सामने आया है।...... संकलन की सभी कवितायें कथा की अलगनी पर टिकी हुई हैं। उनमें वर्णनों की चित्रोपम छटा और भावों की रंगीली मर्म-स्पर्शिता है। कथा-प्रेमियों और कविता प्रेमियों के लिए यह कृति परितोषकारी है।

—डॉ० नरेन्द्र भानावत

जीवन के अमृतकण

लेखक : गणेश मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न
सम्पादक : श्रीचन्द सुराना, 'सरस'
प्रकाशक : अमर जैन साहित्य संस्थान, उदयपुर
मूल्य : २.५०, प्रकाशन काल १९७१

❀"जीवन के अमृत कण" पुस्तक को पढ़कर मन आनन्दविभोर हो उठा, सचमुच एक-एक अमृत कण के रसास्वादन से जीवन में अपूर्व जागृति, चेतना और प्रेरणा की बाढ़ आ रही है। —महासती उज्ज्वलकुमारी

❀"जीवन के अमृत कण" मानव में रही हुई, अन्तरंग अशान्ति को दूर हटाकर शान्ति प्रदान करने वाली एक सुन्दर कृति है, इस अमृत कणों के खजाने में से एक-एक अमृत कण निकाल कर मानव अध्यात्म शान्ति का अनुभव कर सकता है।

—प्रवर्तक विनयऋषि

गुणी 'गणेश' मुनीश्वर प्यारे, पण्डित राज कहाते हैं।
नया-नया साहित्य सर्वदा, लिखते ही बस जाते हैं ॥
रोचक लिखे प्रसंग जिन्होंने, चमक उठे मानव जीवन ।
'जीवन के अमृतकण' सचमुच, जीवन के हैं अमृत कण ॥

—चन्दन मुनि [पंजाबी]

❀ प्रस्तुत पुस्तक चिन्तन प्रधान रूपक, संस्मरण सूक्तियों तथा अनुभूत घटनाओं का सुन्दर संकलन है। आज व्यक्ति इतना व्यस्त है कि उसे बड़े-बड़े ग्रन्थ पढ़ने की फुरसत नहीं है। जिन्हें फुरसत है वे जीवन निर्माणकारी साहित्य का चयन नहीं कर पाते। प्रस्तुत पुस्तक इन दोनों कमियों की पूर्ति करती है।...... नैतिक शिक्षण में इसका उपयोग किया जाना चाहिए।

—डॉ० शान्ता भानावत, एम० ए०, पी-एच० डी०

प्रेरणा के बिन्दु

लेखक : गणेश मुनि शास्त्री साहित्यरत्न
प्रकाशक : अमर जैन साहित्य संस्थान, उदयपुर
मूल्य : ३.००, प्रकाशन काल १९७२

दे रही कालेज में ज्यों, उच्च शिक्षण शिक्षिका ।
'प्रेरणा के विन्दु' देखी एक अद्‌भूत पुस्तिका ॥
दे रहा कर्त्तव्य की ही प्रेरणा हर विन्दु है।
क्या मधुर हर विन्दु में इक लहलहाता सिन्धु है ॥
विन्दुओं के सिन्धुओं से प्रेरणा कुछ लीजिये ।
और उन्नत, और उन्नत मनुज जीवन कीजिये ॥
भर दिया कूजे में जिनने सत्य के सन्देश को ।
क्यों कहें न धन्य शतशः श्रमण गुणी 'गणेश' को ॥

—चन्दन मुनि [पंजाबी]

❀ आधुनिक युग के समर्थ चिंतक श्री गणेश मुनिजी शास्त्री द्वारा प्रणीत "प्रेरणा के विन्दु" नामक पुस्तक पढ़ी, पुस्तक क्या है—'बिन्दु में सिन्धु' और 'गागर में सागर'। चिंतन प्रधान इक्यासी रूपक तथा लघु कहानियों का यह अद्‌भुत संग्रह जीवन का नव निर्माण करने में सक्षम बनेगा......।

—साध्वी उज्ज्वलकुमारी

'प्रेरणा के विन्दु' में सत्प्रेरणा का सिन्धु लहरा रहा है। जिसको प्राप्त कर मानव अपने कल्याण का पथ आलोकित कर सकता है। मुनिश्री जी में विषय की संक्षिप्तता और भावों की गम्भीरता भरने की अद्‌भुत क्षमता है ... ।

—डॉ० राजकृष्ण दुगड़, पी-एच० डी०